जैन विज्ञान
विचार संगोष्ठी

26, 27, 28 अगस्त 94

गुना (म.प्र.)

■ सौजन्य-

श्री हजारीलाल शिखरचंद जैन

लोहा मंडी, आगरा 282002

■ प्राप्ति स्थल :

जैन कटपीस हाऊस

सदर बाजार, गुना (म.प्र.) 473 001

फोन : 52055

कहाँ/क्या

- सुरभित संयोजन — 1
  - डॉ. महावीर जैन, गुना
- विज्ञान और धर्म — 2-4
  - श्री नीरज जैन, सतना
- जैन धर्म और विज्ञान : समानताएँ और संभावनाएँ — 5-7
  - डॉ. नेमीचंद जैन, संपादक, तीर्थंकर,
    65, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया रोड, इन्दौर (म.प्र.)
- विदेशों में जैनधर्म — 8-12
  - डॉ. गोकुलप्रसादजैन, उपाध्यक्ष, वीर सेवा मंदिर,
    21, दरियागंज, नई दिल्ली
- विकास के चौराहे पर : हम और पिरामिडीय उर्जा — 13
  - प्रो. एम.एल. जैन, स्ट्रक्चरल इंजीनियरिंग डिपार्टमेंट,
    शासकीय इंजीनियरिंग कॉलेज, उज्जैन (म.प्र.)
- णमोकार मंत्र और पिरामिडीय उर्जा — 14-15
  - डॉ. अभयप्रकाश जैन,
    एन-14, चेतकपुरी, ग्वालियर (म.प्र.)
- समवशरण में भव दर्शन — 16-17
  - डॉ. अभयप्रकाश जैन, ग्वालियर
- आत्मा, मोक्ष एवं विज्ञान — 18
  - डॉ. आर.सी. जैन, सांख्यिकी विभाग
    एफ. 5, विक्रम विश्वविद्यालय परिसर, उज्जैन (म.प्र.)
- क्या अकाल मृत्यु संभव है ? — 19-25
  - डॉ. अनिल कुमार जैन, वरिष्ठ उपनिदेशक,
    भारतीय तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग, अहमदाबाद
- अपघटन और तप — 26-35
  - डॉ. कु. आराधना जैन,
    मील रोड, गंजबासौदा, विदिशा (म.प्र.)
- जैन जैव सिद्धांतों द्वारा पृथ्वी की रक्षा — 36-38
  - श्री सुरेश जैन (IAS), आयुक्त गैस राहत,
    30, निशान्त कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)
- पर्यावरण और तीर्थंकर चिन्ह — 39-41
  - श्री सुरेश जैन (IAS), आयुक्त गैस राहत,
    30, निशान्त कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)

○ जैन गणित : एक पूर्वेक्षण 42-44
● डॉ. अनुपम जैन
सम्पादक-अर्हत्वचन, सहायक प्राध्यापक-गणित
शासकीय महाविद्यालय, सारंगपुर

○ जैन आहार और मर्यादाएँ 45-46
● डॉ. अशोक जैन, रीडर, वनस्पति विभाग,
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

○ आहार विज्ञान और जल 47-48
● डॉ. आर.के. जैन, वरिष्ठ वैज्ञानिक,
इंडियन ग्रॉसलैंड फौडर रिसर्च इन्सटीट्यूट,
झाँसी (उ.प्र.)

○ मर्यादित दही और वैज्ञानिक मान्यताएँ 49-51
● डॉ. अशोक जैन, रीडर, वनस्पति विभाग,
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.) एवं
● डॉ. निरंजन श्रोत्रिय, गुना

○ अण्डा और दूध : कुछ वैज्ञानिक तथ्य 52-55
● डॉ. अशोक जैन, रीडर, वनस्पति विभाग,
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

○ जीवाणुओं पर नियंत्रण के उपाय और जैन मान्यताएँ 55-56
● डॉ. निशा जैन, पी.एच.डी., परिस्थि की विज्ञान
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)

○ भूमिगत वनस्पतियाँ : वैज्ञानिक तथ्य 57-61
● डॉ. आर.के. जैन, विभागाध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान,
एस.एस.एल. जैन महाविद्यालय, विदिशा (म.प्र.)

○ उदम्बर फल : वैज्ञानिक तथ्य 62-63
● श्री सुरेश कुमार जैन, विभागाध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान,
एस.एस.एल. जैन महाविद्यालय, विदिशा (म.प्र.)

○ कुष्ठ रोग और मांसाहार 64-65
● डॉ. एम.एम. बजाज, प्रो. डिपार्टमेंट आफ फिजिक्स एण्ड एस्ट्रोफिजिकल,
यूनिवर्सिटी आफ दिल्ली, दिल्ली

○ **Evolution Theory of Jainism** 66-72
● Shri D.K. Jain, Gwalior

○ मूल्यांकन-परम्परा का अनुकरणीय सूत्रपात 73-74
● डॉ. नेमीचंद जैन, संपादक, तीर्थंकर,
65, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया रोड, इन्दौर (म.प्र.)



समारोह का शुभारम्भ श्री सुनय एवं वीणा पाटनी अमेरिका द्वारा दीप प्रज्ज्वलन कर किया गया


अखिल भारतीय
जैन विज्ञान विचार संगोष्ठी
वक्ता





आमंत्रित विचारक एवं वैज्ञानिक



मुख्य अतिथि मा. श्री दिग्विजयसिंह (मुख्यमंत्री, म.प्र. शासन)



अखिल भारतीय जैन विज्ञान विचार संगोष्ठी
जैन पुराण कोशकार
सम्मान समारोह
महावीर भवन

मध्य में मुनिश्री 108 क्षमासागरजी, दायीं ओर ऐलक श्री 105 उदारसागरजी महाराज बायीं ओर ऐलक श्री 105 सम्यक्त्व सागरजी महाराज। श्री प्रवीणचंदजी, श्री दरबारीलालजी कोठिया एवं श्री कस्तूरचंद जी "सुमन" (जैन पुराण कोशकार)

सुरभित संयोजन

वर्तमान काल में संस्कृत का विज्ञान शब्द अंग्रेजी के साइंस शब्द के समानार्थी के रूप में लिखा, बोला और समझा जाता है। विज्ञान शब्द और उसका आधुनिक कथ्य अति प्राचीनकाल से प्रचलित है। विभिन्न धर्मों और दर्शनों में विज्ञान शब्द का प्रयोग इसी लक्ष्य से होता रहा है, जिस उद्देश्य से आधुनिक वैज्ञानिक करते हैं। विज्ञान को विशेष ज्ञान माना गया है। यह विशेष ज्ञान ही धर्म है, इसीलिए जैन-दर्शन के प्राचीन आगम ग्रंथों में धर्म ही वीतराग-विज्ञान की संज्ञा से सुशोभित है। जीवन मुक्ति की साधना के चरण जब शोध की पगडंडी पर गतिशील होते हैं, तभी धर्म, अध्यात्म और विज्ञान अभेद रूप होकर वीतराग-विज्ञान हो जाता है।

वीतराग-विज्ञान की इसी स्वर्णरेख को शोध की कसौटी पर कसने/परखने हेतु गुना नगर में मुनिश्री क्षमासागरजी महाराज एवं ऐलक द्वय श्री उदारसागरजी और श्री सम्यक्त्व सागरजी के सानिध्य में, दिनांक 26, 27 और 28 अगस्त 1994 को ''जैन विज्ञान विचार संगोष्ठी'' का संयोजन किया गया, जिसका सफल संचालन सतना निवासी श्री नीरज जैन ने किया।

यह संगोष्ठी प्रथम दिवस के आरंभ से तृतीय दिवस के कार्यक्रम की समाप्ति पर्यन्त अत्यन्त दिव्य/भव्य रूप से आकार लेती रही। इन तीन दिवसीय नौ सत्रों में देशभर से पधारे हुए चिन्तकों, वैज्ञानिकों, मनीषियों और शोधकर्ताओं ने संदर्भित विषयों पर शोध पत्र पढ़े एवं तद् विषयक प्रामाणिक विचार प्रस्तुत किए। प्रस्तुत संदर्भों पर अनेक प्रश्न चिन्ह लगे, विविध जिज्ञासाओं ने जन्म लिया तथा सफल समाधान प्रस्तुत किए गए।

प्रत्येक सत्र के अन्त में मुनिश्री क्षमासागरजी का मंगल उद्बोधन ही समाधान का स्वरूप लेता रहा और संगोष्ठी परम से चरम की सम्पूर्णता को स्पर्श करती रही। इस तीन दिवसीय संगोष्ठी का निष्कर्ष मुनिश्री के निम्नलिखित सूत्र वाक्य में समाहित है -

''विज्ञान अपूर्ण धर्म है, परन्तु धर्म परिपूर्ण विज्ञान है''

जैन विज्ञान विचार संगोष्ठी को जीवन्तता प्रदान करने वाले चिन्तकों, मनीषियों और शोधकर्ताओं की सक्रिय सुरुचिपूर्ण सहभागिता के लिए कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, इनके शोध पत्रों और आलेखों का संकलन ही प्रस्तुत पुस्तक का साकार रूप है।

इस अनुष्ठान को अविस्मरणीय बनाने में गुना जैन समाज, नगर के गणमान्य सुधी श्रोता एवं मुनिसंघ वर्षायोग प्रबन्ध समिति के निष्ठावान पदाधिकारीगण एवं कार्यकर्ताओं के प्रणम्य योगदान को नमन करता हूँ।

संयोजन की अकिंचन इकाई
डॉ. महावीर जैन

विज्ञान और धर्म



- नीरज जैन, सतना

विज्ञान और धर्म दो पृथक तत्व कहे जाते हैं। पर क्या वास्तव में वे दो हैं ? यह प्रश्न सदाकाल से मानव मन को मथता रहा है। किसी ने इन दोनों को एक माना, किसी ने सर्वथा पृथक इनका अस्तित्व स्वीकार किया। किसी ने इन्हें एक-दूसरे का विरोधी तत्व बताया और किसी ने एक-दूसरे के बिना दोनों को अधूरा कह कर दोनों को एक-दूसरे का पूरक भी कहा। पर ऐसे सभी व्याख्याकारों ने किसी न किसी रूप में दोनों की उपयोगिता को सदा स्वीकार किया। अनावश्यक किसी को नहीं कहा।

आज जब हम विज्ञान की उपलब्धियों को हानि-लाभ की तुला पर चढ़ाकर तौलते हैं तो हमारे मन में एक असमंजस का भाव उत्पन्न होता है। हम पाते हैं कि विज्ञान ने एक ओर जहाँ मानव के हित के लिए बहुत कुछ प्रस्तुत किया है वहीं दूसरी ओर उसने ऐसा भी बहुत दिया है जो न केवल मानव के लिए अहितकर है, वरन समूची मानवता के अस्तित्व के लिए चुनौती बनकर हमें धमका रहा है। एक ओर हमें लगता है कि हमारे सारे कष्टों और सारी विपत्तियों के शमन का उपाय केवल विज्ञान के ही पास है, वहीं दूसरी ओर हम यह भी विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि हमारे लिए सबसे अधिक दुखद और सर्वाधिक आतंकित करने वाला भी विज्ञान ही है। मानव जाति और मानवता के विनाश के जितने भी कारण आज उपस्थित हैं, विज्ञान-जनित विकल्प उन सबमें प्रमुख और सर्वाधिक शक्तिशाली लगते हैं।

ऐसी स्थितियों में ज्ञान-विज्ञान की चर्चा करना, उन्हें उनके सही और सार्थक परिप्रेक्ष्य में पहचानने का प्रयास करना नितान्त आवश्यक और प्रासंगिक लगता है। धर्म की सापेक्षता और निरपेक्षता के दृष्टिकोण से विज्ञान का मूल्यांकन करना मानव जीवन के लिए ''प्रकाश-स्तम्भ'' की तरह मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है। विज्ञान और धर्म की अभिन्नता को, और यदि वे वास्तव में पृथक हैं तो उनके अंतर्सम्बन्धों को रेखांकित करने के ऐसे प्रयास जब किसी वीतराग-विज्ञानी, प्रयोग-सिद्ध, धर्माचारी संत के सान्निध्य में किए जायें तब निःसंदेह वे अधिक उपयोगी और अधिक सुपाच्य बन जाते हैं।

पिछले वर्ष गुना में कुछ विचारक मित्रों ने मिलकर एक ऐसा ही सत्प्रयत्न वहाँ किया। परम पूज्य दिगम्बराचार्य श्री विद्यासागरजी के तपोनिष्ठ, परम-शिष्य श्री क्षमासागरजी मुनि महाराज एवं ऐलक द्वय श्री उदारसागर व सम्यक्त्व सागरजी के चातुर्मास काल में वहाँ उन्होंने मुनिसंघ के चरण-सान्निध्य में एक ''विज्ञान-संगोष्ठी'' का भव्य आयोजन किया। सभी का कहना है कि संगोष्ठी अत्यन्त सफल और प्रभावक रही। उसी संगोष्ठी की संस्मृतियों को बटोरने का एक प्रयत्न है यह संकलन।

संगोष्ठी की बुनावट में आदि से लेकर अंत तक सुघड़ता बराबर बनी रही। तीन दिनों तक अनेक विद्वानों और अध्येताओं -विचारकों ने, अनेक प्रासंगिक विषयों पर अपने अध्ययनों-अनुभवों का सार-संक्षेप प्रस्तुत किया। एक-दूसरे की प्रस्तुतियों पर विचार-विमर्श किए, उन पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाए और अपनी जिज्ञासाओं के समाधान तलाशने का प्रयास किया। पर, उस सारे मंथन का नवनीत पूज्य मुनिश्री ने एक छोटे से वाक्य में, अपने मंगल आशीष की तरह प्रदान किया। उनका वह गहन अर्थ-वाहक वाक्य था -

''विज्ञान अपूर्ण धर्म है , परन्तु धर्म परिपूर्ण विज्ञान है।''

संगोष्ठी की सर्वोपरि उपलब्धि यह रही कि उसमें माटी-पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के अनिवार्य उपयोग में प्राणी-हिंसा की आशंकाओं और अहिंसा की सम्भावनाओं को गृहस्थ -चर्या और साधु-चर्या, दोनों के संदर्भ में पहचानने की बेबाक और ईमानदार कोशिश की गई। विशेषकर वनस्पति के उपयोग को लेकर सूक्ष्मतम बिश्लेषणाएं सामने आईं। उन पर विस्तार से विचारों का आदान-प्रदान हुआ। उन्हें अनाग्रही मन से समझने का प्रयास किया गया। इस चर्चा के माध्यम से भोजन-पान को लेकर अनेक धारणाओं को आगम और आधुनिक विज्ञान के आलोक में देखने-समझने का अवसर मिला। अनेक शंकास्पद अवधारणाओं की प्रामाणिकता सिद्ध हुई और कुछ प्रवर्तमान पद्धतियों के औचित्य पर प्रश्न-चिन्ह लग गए। कुल मिलाकर यह वैचारिक-आयोजना सामान्य श्रावक की दैनिक चर्या के लिए उपयोगी और स्वास्थ्यकर लगी।

संगोष्ठी के सत्र-संचालन की सेवा मुझे सौंपी गई थी। मेरी सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि ऐसी सभा में, जो आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुषों से भरी हो, विज्ञान जैसे शुष्क और नीरस विषय को शान्ति-पूर्वक सुनने का वातावरण कैसे बना रहे। क्या उपाय किया जाए कि शोध-पत्र वाचन की प्रक्रिया उबाऊ न होने पावे। परन्तु मेरा सौभाग्य था कि मेरे प्रायः सभी विद्वान मित्रों ने मुझे बहुत सहयोग दिया और हर श्रोता ने ऐसे आत्म-संयम का परिचय दिया कि मेरा काम स्वतः आसान होता चला गया। इस सौजन्य के लिए मैं गुना के उन सभी श्रोताओं का सदा आभारी रहूंगा।

संचालन के लिए मैंने एक विशेष पद्धति का सहारा उन तीन दिनों के लिए ले लिया जो गोष्ठियों के संचालन की स्वीकृत पद्धति नहीं मानी जाती। प्रत्येक विद्वान के वक्तव्य के उपरान्त अगले विद्वान को आमंत्रित करते समय मैं स्वयं प्रस्तुत वाचन पर कोई प्रश्न उठाता या अपनी संक्षिप्त-सी टिप्पणी दे देता था। इस बहाने उसी शोध-पत्र में से श्रोता समाज को कुछ जीवनोपयोगी व्यावहारिक सूत्र मिल जाते थे। अंतिम वक्ता के बाद मुझे अपनी टिप्पणी द्वारा पूज्य मुनिश्री के उद्बोधन की भूमिका भी तैयार करनी होती थी। मुझे बराबर महसूस होता था कि यह करके मैं सत्र के अध्यक्ष के अधिकार पर अतिक्रमण करने का अपराध कर रहा हूँ, पर उपरोक्त कारणों से मैं ऐसा करने के लिए बाध्य था। शायद

इससे किसी की नाराजगी मुझे नहीं लेनी पड़ी। अपनी इस बाध्यता को सिद्ध करने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

वनस्पति-विज्ञान पर एक पत्र का वाचन हो रहा था। वह अधिक दुरुह वक्तव्य था। वे विद्वान उस सत्र के अंतिम वक्ता थे। उन्होंने प्रसंगवशात कल्पवृक्षों का उल्लेख किया। अपनी टिप्पणी में उसी उल्लेख का लक्ष्य करके मैंने कहा -

''कल्प-वृक्ष कभी थे या नहीं थे इस पर अवश्य शोध होनी चाहिए। शास्त्र तो कहते हैं कि वे थे और अब नहीं हैं। पर, मैं ऐसा सोचता हूं कि कल्प-वृक्ष आज भी होते हैं। उनका अस्तित्व समाप्त नहीं हुआ। मेरा ऐसा विश्वास है कि मनुष्य की अनावश्यक आकांक्षाओं की पूर्ति करने में असमर्थ होकर ही कल्प-वृक्ष मर गए होंगे।''

अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए मैंने कहा- ''जो गृहस्थ अपनी आय के भीतर ही संतोष-पूर्वक अपनी आकांक्षाएँ पूरी करने की कला जानते हैं, आज भी उनके आंगन में कल्प-वृक्ष तो हैं। हमारी इच्छाएँ इतनी वाजिब हों, इतनी संतुलित हों कि हमारे उपलब्ध साधनों में ही उनकी पूर्ति सम्भव होती जाये, बस यही तो कल्प-वृक्ष की सार्थकता है। यही उस प्रजाति का रहस्य है।

मेरी इस टिप्पणी ने कल्प-वृक्षों की प्रजाति की चर्चा को सहसा अपरिग्रह से जोड़ दिया। उसके उपरान्त मेरी प्रार्थना पर पूज्य क्षमासागरजी महाराज ने ''अपरिग्रह'' और ''इच्छा-परिमाण'' पर बहुत सुन्दर और सुविचारित प्रवचन उस सभा को प्रदान किया।

बस, ऐसे ही संदर्भ ढूंढ़ते और उनका विश्लेषण करते कैसे संगोष्ठी के तीन दिन निकल गए, पता ही नहीं चला। विद्वानों को जितना अधिक सुना, मुनिश्री को सुनकर वह सब सुनने की प्यास और बढ़ती ही चली गई। मेरा विश्वास है कि बहुतों ने उस गरिमामय आयोजन से बहुत कुछ ग्रहण किया, धारण किया और समेट कर भविष्य के लिए रखा होगा।

आज उस संगोष्ठी की संस्मृतियों का यह संकलन आपके हाथों तक पहुँच रहा है यह मेरे लिए अत्यन्त प्रसन्नता की बात है। उस अविस्मरणीय आयोजन के साथ निकट से जुड़ा रहा, यह याद करके अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करता हूँ। जिनकी कृपा से जीवन के कुछ क्षण पवित्र और सार्थक बनाने का शुभावसर मुझे प्राप्त हुआ उन श्री चरणों में इन पंक्तियों के साथ प्रणाम कि -

सिर्फ आधा पेट खाकर जो गुजारे दिन तमाम,
खुद-खुदा में मस्त हो, जिसको नहीं दुनिया से काम
एक भी जिसका जहाँ में दोस्त या दुश्मन नहीं,
उस शहंशाहे-जहाँ को रोज के सौ-सौ सलाम।



जैन धर्म और विज्ञान : समानताएँ और संभावनाएँ



-डॉ. नेमीचन्द जैन, संपादक तीर्थंकर

सबमें पहले हमें ''धर्म'', ''अध्यात्म'' और ''विज्ञान'' शब्दों के अर्थ जानने/ढूंढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए। 'धर्म' साधनामूलक, 'अध्यात्म' आत्मा-परक तथा 'विज्ञान' शोधमूलक शब्द हैं। धर्म की आंख आचार पर, अध्यात्म की आत्मा पर और विज्ञान की अवाय-ज्ञान पर अनवरत/ अभीक्ष्ण रहती है।

धर्म और अध्यात्म के सामान्य अर्थों को प्रायः सभी जानते हैं - विज्ञान के परम्परित और नये अर्थ से लोग प्रायः अपरिचित हैं। परम्परा से इस शब्द के दो अर्थ हैं : 1. चारित्र; ज्ञान-विज्ञान कहने पर विज्ञान शब्द के इस अर्थ का स्पष्ट बोध होता है। प्राकृत में ''विज्ञान'' के लिए ''विण्णाण'' शब्द प्रयुक्त है। विज्ञान विशिष्ट ज्ञान को भी कहा गया है। कोई भी ज्ञान चारित्र में प्रकट होकर ही विशिष्ट होता है। जिया हुआ ज्ञान विज्ञान कहलाता है, कहा हुआ ज्ञान, विज्ञान नहीं है। 2. अवाय अर्थात निश्चयात्मक/संशय-मुक्त ज्ञान को भी विज्ञान कहा गया है। इन दो अर्थों के अलावा साइंस के संदर्भ में विज्ञान शब्द का एक नया अर्थ भी विकसित हुआ है। ''साइन्स'' शब्द लेटिन की क्रिया साइंस (SCIENS)/ साइंट (SCIENT) का वर्तमानकालिक कृदन्त (प्रजेंट पार्टिसिपल) है, जिसका अर्थ है जान-ना (To know) 'साइंटिस्ट' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन 1840 ई. में कैम्ब्रिज के श्री विलियम वेवेल ने किया (द. डिक्शनरी ऑफ वर्ड ओरीजिन्स, जोसेफ टी. शिपले, पृ. 314, कॉलम 1)।

उक्त अर्थों से स्पष्ट है कि विज्ञान का संबंध खोज़बीन/जाँच-पड़ताल से प्राप्त किसी वस्तु अथवा पदार्थ से संबंधित अत्यन्त तर्कसंगत/सुसिद्ध ज्ञान है।

विज्ञान में किसी वस्तु अथवा प्रवृत्ति की खोज़ के लिए एक निर्धारित प्रक्रिया अपनाई जाती है। इस प्रक्रिया के चार सोपान हैं : 1. न्यास - संग्रहण, 2. उसका विश्लेषण, 3. तदनुसार प्राप्त तथ्यों का वर्गीकरण, परीक्षण एवं वस्तुनिष्ठ समीक्षण, 4. निष्कर्षण। जैनाचार्यों, व्याख्याकारों तथा टीकाकारों ने इसी पद्धति का अनुसरण किया है। उन्होंने किसी भी तथ्य को भावुकता या अनुमान के तल पर सिद्ध या स्वीकार नहीं किया है, वरन् तर्क और स्वानुभव की कसौटियों पर जी कर संपुष्ट किया है।

विज्ञान तब तक किसी तथ्य को स्वीकार नहीं करता, जब तक वह उसे सार्वभौमिक/ सार्वकालिक दृष्टि से पुनः पुष्ट नहीं कर लेता। उदाहरणतः, परमाणु-विज्ञान। उसके निष्कर्ष सर्वत्र एक-से होते हैं। जैनधर्म/अध्यात्म की स्थिति भी यही है। उसने आवर्तनों में तमाम

तथ्यों को अभिपुष्ट किया है । हमारी तीर्थंकर/आचार्य परम्परा इसकी प्रमाण है। कर्म-सिद्धान्त के निष्कर्ष कम से कम 24 बार तो पुष्ट हुए ही हैं। अतीत में भी वैसा हुआ है। अनागत में भी वैसा होगा। ये चौबीस तो स्थापित विज्ञानी हैं, वैसे हजारों-हजार विज्ञानी हुए हैं, किन्तु जो मुक्ति के स्वरूप, वस्तु-स्वरूप को विज्ञान की भाषा में समझा सके, वैसे भगवन्त 24 हुए।

'अनेकान्त' और 'स्याद्वाद' जैनदर्शन की अध्ययन-अनुसंधान-प्रक्रिया की दो महत्व-पूर्ण पटरियाँ हैं। अनेकान्त वस्तु की बहुआयामिता/धर्मिता को प्रतिपादित करता है - स्याद्वाद उस बहुआयामिता/बहुमुखीनता तक पहुँच बनाता है। अनेकान्त वस्तु-स्वरूप का संबोधन है, जबकि 'स्याद्वाद' उसे जानने की एक सम्यक्/संपूर्ण प्रक्रिया है। नय पद्धति जैनदर्शन की निष्कर्ष-यात्रा के नवनीत हैं। जब तक हम इस प्रक्रिया को नहीं जानते, जैनधर्म/दर्शन की तह तक जाना दुष्कर कार्य है।

''परमाणु'', ''प्रदेश'', ''समय'' शब्दों की जो व्याख्या जैनदर्शन ने की है, वह अद्भुत-अकाट्य है। 'परमाणु' पुद्गल की, 'प्रदेश' आकाश की, और 'समय' काल की अन्तिम इकाइयाँ हैं। इन्हें जानना स्वयं में रोमांचक है। कैवल्य में जो-जैसा जाना गया है, वह, वैसा विज्ञान आज कहाँ जान पाया है? अभी तक परमाणु को देखा नहीं जा सका है, मात्र उसकी गति को रेकॉर्ड किया गया है। भौतिकी के पास 'अणु' का ज्ञान है, 'परमाणु' के संबंध में उसकी जानकारी अभी भी आधी-अधूरी है।

लोक-रचना का जैसा प्रतिपादन जैनागम में हुआ है, वैसा अन्यत्र नहीं है। विज्ञान की तरह ही जैन धर्म/दर्शन अन्धविश्वासमूलक नहीं है, इसीलिए लोकोत्पत्ति के बारे में कोई कल्पना नहीं की गई है और न ही इसका कोई सृष्टा माना गया है। जैनदर्शन ने छह द्रव्यों को लोक-रचना का आधार माना है। ये हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन्हें लोक-रचयिता कहा है।

कर्म-सिद्धान्त रसायन-विज्ञान/शुद्ध गणित पर आधारित है। यह अनुमान अथवा कल्पनामूलक नहीं है।

जैन तप/साधना भेद-विज्ञानमूलक है। वह जीव-पुद्गल के पार्थक्य की प्रक्रिया है। इसके बारे में जो भी भ्रम हों, उन्हें दूर किया जाना चाहिए।

विज्ञान की नजर में श्रावकों का यह वर्गीकरण भी महत्वपूर्ण है-

1. आगमप्रधानी श्रावक,

2. परीक्षा-प्रधानी श्रावक परीक्षा-प्रधानी श्रावक को श्रेष्ठ माना गया है।

जैनाचार्यों के ''सम्यक्'' एवं ''उत्तम'' शब्द/विशेषण ध्यान देने योग्य हैं। ये दोनों भी जैन-साधना के वैज्ञानिक रुख को प्रतिपादित करते हैं।

जैनदर्शन ने वस्तु-स्वरूप को जानने की स्पष्ट प्रक्रिया अपनायी है। यह अत्यन्त तर्कसंगत है। समग्र जैनदर्शन वस्तु-स्वरूप की खोज-यात्रा है। इस यात्रा में पग-पग पर कार्यकारण शोध-विधि को अपनाया गया है। जैनों ने अपनी चिन्तन-यात्रा में कार्य-कारण नियम लॉ ऑफ कॉजेशन का सावधान/अप्रमत्त परिपालन किया है। ''क्या'', ''क्यों'', ''कहाँ'', ''कब'', ''कौन'', ''कैसे'', ''कितना'' जैसे शब्द जैनधर्म और दर्शन के प्राण हैं। हमारे श्रावक उत्कृष्ट प्राश्निक और आचार्य तर्क-संगत उत्तरदाता रहे हैं।

इस तरह भौतिकी, जैविकी, वानस्पतिकी, रासायनिकी आदि विज्ञान-शाखाओं का जब तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म/दर्शन/अध्यात्म पूर्णतया वैज्ञानिक हैं। वहाँ अनुमान अथवा कल्पना के लिए कहीं कोई गुंजाइश नहीं है।

कोई विज्ञान या दर्शन आरम्भ में दर्शन या विज्ञान हुए बिना नहीं रह सकता। भेद पूर्वापरता का रहता है, कभी विज्ञान की दार्शनिकता बाद को प्रकट होती है और कभी दर्शन की वैज्ञानिकता बाद को खुलती है। दर्शन वस्तुतः 'तर्क' पर और विज्ञान तर्क संगत आँखों देखी पर चलता है। विज्ञान जो देखता है उसे ही मानता है किन्तु उसकी एक खूबी है कि जिसे वह देख नहीं पाता किन्तु तर्क और दर्शन की कसौटी पर जिसे खरा पाता है उसे भी खोज निकालने की लगातार/अथक कोशिश वह करता है।

यदि एक वैज्ञानिक इसे अपने जीवनकाल में नहीं कर पाता तो दूसरा वैज्ञानिक उस छूटे हुए सूत्र को थामता है और पूरी निष्ठा से उसे आगे बढ़ाता है किन्तु खोज अथक-अटूट चलती है। असल में जो निष्ठा विज्ञान के पास है धर्म और अध्यात्म के पास भी वही है, किन्तु दोनों के इलाकों में फर्क है। धर्म, दर्शन और अध्यात्म का इलाका पूरी तरह इन्द्रियगोचर नहीं है, किन्तु विज्ञान का सम्पूर्ण क्षेत्र इन्द्रिय अथवा यंत्रग्राह्य है। यह कठिनाई अवश्य है, किन्तु हम इसे खाई नहीं कह सकते। कहा जा सकता है, विज्ञान का अन्त जहाँ दिख पड़ता है, धर्म और अध्यात्म की शुरुआत उस सीमारेखा पर है।

हमारी कोशिश होनी चाहिए कि इस जैन विज्ञान विचार द्वारा 'जैनधर्म और विज्ञान' के बीच कोई स्पष्ट संवाद बने।



विदेशों में जैनधर्म

-डॉ. गोकुलप्रसाद जैन

जैनधर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है। जैनधर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव का जन्म स्वायंभुव मनु की पांचवीं पीढ़ी में हुआ था। स्वायंभुव मनु के पुत्र प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र अग्नीध्र, अग्नीध्र के पुत्र अजनाथ (नाभिराय) और नाभिराय के पुत्र ऋषभ थे।[1] आदिपुराण में मनु को ही कुलकर कहा गया है। ऋषभनाथ के पिता अजनाभ (नाभिराय) अंतिम कुलकर थे जिनके नाम से वह देश अजनाभ वर्ष कहलाता था तथा तदुपरान्त ऋषभपुत्र चक्रवर्ती सम्राट भरत के नाम पर भारतवर्ष कहलाया।

जैन साधु अतिप्राचीन काल से ही समस्त पृथ्वी पर विद्यमान थे, जो संसार त्यागकर आत्मोदय के पवित्र उद्देश्य से एकान्त वनों और पर्वतों की गुफाओं में रहा करते थे।[2] जैन काल गणना के अनुसार तीर्थंकर ऋषभदेव के अस्तित्व का संकेत संख्यातीत वर्षों पूर्व मिलता है। भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में सर्वत्र 141 ऋचाओं में ऋषभदेव की स्तुति और जीवन-परक उल्लेख मिलते हैं। अन्य वेदों, उपनिषदों एवं प्रायः सभी पुराणों-उपपुराणों आदि में भी ऋषभदेव के जीवन प्रसंगों के उललेख प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। उनमें अर्हन्तों, वातरशना मुनियों, यतिओं व्रात्यों विभिन्न तीर्थकरों तथा केशी ऋषभदेव संबंधी स्थल इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।[3]

ऋषभदेव और उनकी परम्परा में हुए अन्य 23 तीर्थकरों द्वारा प्रवर्तित महान श्रमण-संस्कृति और सभ्यता का उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत में प्रचार-प्रसार प्राग्वैदिक काल में ही हो गया था। सर्वप्रथम तो वह संस्कृति भारत के अधिकांश भाग में फैली और तदुपरान्त वह भारत की सीमाओं को लांघकर विश्व के अन्य देशों में प्रचलित हुई और उसका विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार हुआ। यह संस्कृति यूरोप, रूस, मध्य एशिया, लघु एशिया, मैसोपोटामिया, मिश्र, अमेरिका, यूनान, बेबीलोनिया, सीरिया, सुमेरिया, चीन, मंगोलिया, उत्तरी और मध्य अफ्रीका, भूमध्यसागर, रोम, ईराक, अरबिया, इथोपिया, रोमानिया, स्वीडन, फिनलैंड, ब्रह्मदेश, थाईलेंड, जावा, सुमात्रा, श्रीलंका आदि संसार के सभी देशों में फैली तथा 4000 वर्ष ईसा पूर्व से लेकर ईसा काल तक प्रचुरता से संसार भर में विद्यमान रही।

वस्तुतः आदि महापुरुष ऋषभदेव विश्व संस्कृति सभ्यता और अध्यात्म के मानसरोवर हैं जिनसे संस्कृति और अध्यात्म की विविध धाराएँ प्रवाहित हुईं और विश्व भर में पल्लवित, पुष्पित और सुफलित हुईं। विश्व में फैली प्रायः सभी अध्यात्म धाराएँ उन्हें या तो अपना

आदिपुरुष मानती हैं या उनसे व्यापक रूप से प्रभावित हैं। यही कारण है कि वे विविध धर्मों के उपास्य, सम्पूर्ण विश्व के विराट् पुरुष और निखिल विश्व के प्राचीनतम व्यवस्थाकार हैं।

वैदिक संस्कृति और भारतीय जीवन का मूल सांस्कृतिक धरातल ऋषभदेव पर अवलम्बित है। भारत के आदिवासी भी उन्हें अपना धर्म देवता मानते हैं और अवधूत पंथी भी ऋषभदेव को अपना अवतार मानते हैं। ऋषभदेव के ही एक पुत्र 'द्रविड़' को उत्तरकालीन द्रविड़ों का पूर्वज कहा जाता है। सम्राट भरत के पुत्र अर्ककीर्ति से सूर्यवंश, उनके भतीजे सोमवश से चंद्रवंश तथा एक अन्य वंशज के कुरुवंश चला।

पुरा काल के अध्ययन से प्रकट होता है कि ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दि के प्रारंभ में और उसके बाद महान पणि (वणि, फणि) जाति ने लगभग सभी भागों में शान्तिपूर्ण ऐतिहासिक प्रव्रजन किया। इस पणि जाति का अनेकशः स्पष्ट उल्लेख प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद की 51 ऋचाओं में, अर्थववेद में, एवं यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता) एवं सम्पूर्ण वेदोत्तर साहित्य में हुआ है। ये पणि (जैन) भारत से गए थे। ये अत्यन्त साहसी नाविक, कुशल इंजीनियर और महान शिल्पी थे।

इन्होंने विश्वभर में अपने राज्य स्थापित किए तथा महल और किले बनवाये। इन्होंने अपना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार साम्राज्य स्थापित किया और अनेक देशों पर शासन किया। इनका सम्बन्ध सुमेर, मिश्र, बेबीलोनिया, सुबा, उर, एलम आदि के अतिरिक्त उत्तरी अफ्रीका, भूमध्यसागर, उत्तरी यूरोप, उत्तरी एशिया और अमेरिका तक से था।

पणि लोगों ने ही मध्य एशिया की सुमेर सभ्यता की स्थापना की थी। इन्होंने ही ईसा पूर्व 3000 में उत्तरी अफ्रीका में श्रमण संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया। मध्य एशिया के उरूक राजवंश का पंचम शासक गिलागमेश लगभग 3600 ईसा पूर्व दीर्घकालिक यात्रा करके भारत में मोहन जोदड़ो (दिल-मन-भारत) की तीर्थयात्रा के लिए गया था, जैसा कि उसके तत्कालीन शिलालेख से प्रगट है। वह श्रमण धर्म का अनुयायी था।

तीर्थयात्रा में उसने मोहन जोदड़ो (दिल-मन-भारत) में आचार्य उत्तनापिष्टिम के दर्शन किए थे। जिसने उसे मुक्तिमार्ग (अहिंसा धर्म) का उपदेश दिया था। सुमेर जाति में उत्पन्न बाबुल के खिल्दियन सम्राट नेबुचेदनजर ने रेवानगर (काठियावाड़) के अधिपति यदुराज की भूमि द्वारका में आकर रैवताचल (गिरनार) के स्वामी नेमीनाथ की भक्ति की और उनकी सेवा में दानपत्र अर्पित किया। दानपत्र पर उक्त पश्चिमी एशियायी नरेश की मुद्रा भी अंकित है और उसका काल लगभग 1140 ईसा पूर्व है।[8]

अमेरिका में लगभग 2000 ईसा पूर्व में (अस्तीक-पूर्व युग में) संघपति जैन आचार्य क्वाजल कोटल के नेतृत्व में पणि जाति के श्रमण संघ अमेरिका पहुँचे और तत्पश्चात सैकड़ों वर्षों तक श्रमण समुदाय अमेरिका में जाकर बसते रहे, ऐसा प्रसिद्ध अमरीकी इतिहासकार वोटन ने लिखा है। प्राचीन अमेरिकी संस्कृति पर क्वाजल कोटल संस्कृति की व्यापक और

स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। मध्य अमेरिका में आज भी अनेक स्थलों पर क्राजल कोटल के स्मारक और चैत्य प्राप्त होते हैं।

लटविया के प्रमुख लेखक पादरी मलबरगीस ने 1856 में लिखा है कि लटविया, एस्टोनियां लिथुएनियां और फिनलेंड वासियों के पूर्वज भारत से जाकर वहां बस गए थे। इनमें अधिकांश पणि व्यापारी थे जो जैन धर्मावलम्बी थे।

कतिपय हस्तलिखित ग्रन्थों में एसे महत्वपूर्ण प्रमाण मिले हैं कि अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, टर्की आदि तथा सोवियत रूस के अजोब सागर से ओब की खाड़ी से भी उत्तर तक तथा लारविया से अल्ताई के पश्चिमी छोर तक किसी काल में जैन धर्म का व्यापक प्रसार था। इन प्रदेशों में अनेक जैन मंदिरों, जैन तीर्थंकरों की विशाल मूर्तियों, धर्म शास्त्रों तथा जैन मुनियों की विद्यमानता का उल्लेख मिलता है।[9]

बेबीलोन से लेकर यूरोप तक जैनधर्म का व्यापक प्रभाव था। मध्ययूरोप, ऑस्ट्रिया और हंगरी में आए भूकम्प के कारण भूमि में एकाएक आये परिवर्तनों से बुडापेस्ट नगर में एक बगीचे में भूमि से महावीर स्वामी की एक मूर्ति निकली थी। सातवीं शती ईसा पूर्व में हुए यूनान के प्रसिद्ध मनीषी जैन साधक और जैन संन्यासी थे। यूरोप और बेबीलोन दोनों का संबंध इयावाणी ऋष्यश्रृंग के उपाख्यान से भी सिद्ध होता है। मौलाना सुलेमान नदवी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारत और अरब के संबंध'[11] में लिखा है कि संसार में पहले दो ही धर्म थे एक समनियमन और दूसरा केलिडयन। समनियन लोग पूर्व के देशों में थे। खुरासान वाले इनको 'शमनाम' और 'शमन' कहते हैं। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा प्रसंग में 'श्रमणेरस' का उल्लेख किया है।[12]

चीन के एक प्रोफेसर तान यून शान ने लिखा है कि तीर्थंकरों ने अहिंसा धर्म का विश्व भर में प्रसार किया था। चीन की संस्कृति पर जैन संस्कृति का व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। चीन पर ऋषभदेव के एक पुत्र का शासन था।

वस्तुतः चीन से केस्पियाना तक पहले ही श्रमण संस्कृति का प्रचार-प्रसार हो चुका था। श्रमण संस्कृति तो महावीर से 2000 वर्ष पूर्व ही आक्सियाना से हिमालय के उत्तर तक व्याप्त थी।[13]

लेनिनग्राड स्थित पुरातत्व संस्थान के प्रोफेसर यूरी जेड्नेप्रोह्वस्की ने 20 जून 1967 को नई दिल्ली में एक पत्रकार सम्मेलन में कहा था कि भारत और मध्य एशिया के बीच संबंध लगभग एक लाख वर्ष पुराने हैं अर्थात् पाषाण काल से हैं तथा यह स्वाभाविक है कि जैन धर्म मध्य एशिया में फैला हुआ था।[14]

प्रसिद्ध फ्रांसीसी इतिहासवेत्ता श्री जे.एस. दुबे ने लिखा है कि एक समय था जब जैन धर्म का कश्यप सागर से लेकर कामचटका की खाड़ी तक खूब प्रचार-प्रसार हुआ था। न केवल यह बल्कि जैन धर्म के अनुयायी यूरोप और अफ्रीका तक में विद्यमान थे।[15]

इसी प्रकार मेजर जनरल जे.जी.आर. फरलॉग ने लिखा है कि अक्सियाना, कैस्पिया, वल्ख और समरकन्द नगर जैन धर्म के आरंभिक केन्द्र थे।[16]

ऋषभदेव ने बहली (बैक्ट्रिया, बलख), अंडवइल्ला (अटक प्रदेश), यवन (यूनान), सुवर्ण भूमि सुमात्रा, पण्हव (प्राचीन यार्थिया वर्तमान ईराक का एक भाग) आदि देशों में विहार किया था। भगवान अरिष्टनेमी दक्षिणापथ के मलय देश में गए थे। जब द्वारका दहन हुआ था, तब अरिष्ट नेमि पल्हव नामक देश में थे।[17]

कर्नल टाड ने अपने 'राजस्थान' नामक प्रसिद्ध अंग्रेजी ग्रंथ में लिखा है कि प्राचीन काल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं। उनमें पहले आदिनाथ या ऋषभदेव थे। दूसरे नेमिनाथ थे। ये नेमिनाथ ही स्केंडिनेविया निवासियों के प्रथम ओडिन तथा चीनियों के प्रथम फो नामक देवता थे।[18]

मिश्र और यूनान में ऋषभदेव की प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं। भारतीय सभ्यता के निर्माण में आदिकाल से ही जैनों का प्रमुख हाथ रहा है। जैनों में बड़े-बड़े व्यापारी और राजनीतिवेत्ता होते आए हैं तथा प्राचीन काल में जो विदेशों से विश्वव्यापी व्यापार प्रचलित था उसमें जैनों का प्रमुख हाथ था।[24]

(विद्वान लेखक ने अपने शोधपत्र में बहुत विस्तार से अत्यन्त खोजपूर्ण और तथ्यपरक विपुल सामग्री दी है। बानगी के तौर पर हमने उसका सार-संक्षेप यहाँ प्रस्तुत किया है। पूरा शोधपत्र दिल्ली से प्रकाशित ऋषभ-सौरभ में अविकल रूप से पढ़ा जा सकता है।)

संदर्भ सूची

1. श्रीमद् भागवत-11/2 मनुस्मृति आदि
2. Major General J.G.R. Furlong : Science of Comparative Relegions (P-14-46)
3. ऋग्वेद 10/102/6, 1/16/9/1, 2/4/19, 2/4/1/10 और 1/16/9/0.
7. Epic of GILGAMESH-published from Great Britain.
8. Pran Nath Vidyalankar-The times of India 19.3.1935.
9. जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान- डा. रामचंद्र पृ. 162.
11. अरब और भारत के संबंध -मौलाना सुलेमान नदवी पृ. 176.
12. ट्रेवल्स ऑफ ह्वेनसांग-सेमुअल बील खंड-2 पृ. 205.
13. Science of comparative Regligions-Major General J.G.R.Furlong.
14. Indian Express, New Delhi 21.6.1967.
15. The Description of Character, Manners and Customes of the people of India and their Institutions, Religions and civil. - East India Company 1817.

16. Shart Studies in the comparative Relision 1887-Intro.
17. जैन परम्परा का इतिहास-युवाचार्य महाप्रज्ञ जैन विश्वभारती लाडनू पृ. 112, 13.
18. Colonal Todd.- Annals and Antiquities of Rajasthan.
24. हिमालय में भारतीय संस्कृति -विश्वम्भर सहाय प्रेमी मेरठ पृ. 44.



विकास के चौराहे पर : हम और पिरामिडीय ऊर्जा



-प्रो. एम.एल. जैन

आधुनिक औद्योगिक विकास की प्रक्रिया के प्रबंध-विज्ञान के प्रबंधन को सही दिशा देने के लिए तेजस केन्द्र की परियोजना का सूत्रपात हुआ। तेजस केन्द्र की प्रस्तावित परियोजना इस आधार पर सुझाई गई कि प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान व आधुनिक प्रायोगात्मक विधाओं का समायोजन करके द्रुत गति से विकास किया जा सकता है। तेजस केन्द्र का प्रमुख आधार है पिरामिड विज्ञान।

पिरामिड अपनी विशिष्ट आकृति के कारण ब्रह्माण्ड में बिखरी मेग्रेटोस्फीयर में विद्यमान चुम्बकीय किरणों को संचित करने की क्षमता रखता है। पिरामिड में समस्त जड़चेतन तत्वों पर आश्चर्यजनक परिणाम पाए गए हैं। पिरामिड में प्राप्त विशिष्ट विद्युत चुम्बकीय तरंगों द्वारा मानव स्वास्थ्य एवं मन-मस्तिष्क पर अलौकिक प्रभाव प्राप्त हुए हैं। पिरामिड के उपयोग द्वारा अनन्त उर्जा के भंडार इस शरीर में सहज रूप से उद्‌घाटित होते पाए गए हैं। पिरामिड में विशेष प्रकार के उर्जा प्रवाह निर्मित होते हैं, जिससे प्रत्यक्ष व परोक्ष जगत् की उर्जा तरंगों से लाभान्वित हुआ जा सकता है।

पिरामिड संरचना वस्तुतः ज्योतिर्विज्ञान, भौतिकी, वास्तुविद्या व गणित का अद्‌भुत समन्वय है। पिरामिड को हम अखिल ब्रह्माण्ड का मानवकृत लघु संस्करण कह सकते हैं। ध्यान के समय पद्‌मासन मुद्रा पिरामिड की तरह उर्जा की संग्राहक होती है। जिससे चमत्कारी परिणाम प्राप्त होते हैं। पिरामिड का उपयोग भावात्मक व आध्यात्मिक विकास के लिए भी किया जा सकता है।

वर्तमान पिरामिडीय विज्ञान पर आधारित तेजस केन्द्र यदि ग्राम व शहर में सामान्य जन के लिए निर्मित किए जायें तो इस संरचना के द्वारा पर्यावरण-प्रदूषण को भी नियंत्रित किया जा सकता है । औद्योगिक विकास की ऊँचाइयों को छूती हुई महानगरीय सभ्यता में आज घबराहट, पीड़ा, शिथिलता, एकाकीपन, टूटन, वैमनस्य, टकराव, कुंठा आदि होना बड़ा आश्चर्यजनक लगता है। इसे देखकर लगता है कि जहाँ एक ओर इस भौतिक विकास से मिट्टी, पानी, हवा आदि प्रदूषित हुई है वहीं दूसरी ओर व्यक्ति का मन, वाणी और कर्म भी प्रदूषित हुआ है। इस सभी से बचने का सर्वोत्तम उपाय विभिन्न प्रकार से उर्जा संग्रहण व उनके समीचीन उपयोग की प्रेरणा देना ही हो सकता है। पिरामिड इस कार्य में सक्षम हैं।



णमोकार मंत्र और पिरामिडीय ऊर्जा



-डॉ. अभयप्रकाश जैन

पिरामिड शब्द सुनते ही मिश्र देश के विश्व विख्यात पिरामिडों का स्मरण हो आता है। पिरामिड सदियों पहले विकसित स्थापत्य, कला और विज्ञान के उत्कृष्ट नमूने हैं। पिरामिड चार त्रिभुज मिलाकर बनी हुई एक अनूठी रचना है जिसमें हर त्रिकोण की दो भुजाएँ समान होती है और आधार इन दो भुजाओं से बड़ा होता है। इसमें तीन विशेष गुण पाए गए हैं :- 1. परिरक्षण (प्रजर्वेशन) 2. पुनर्स्थापन (रेस्टोरेशन) 3. कायाकल्प (रेजुविनेशन)।

मिश्र देश में आज भी प्राप्त 'मम्मी' पिरामिड के परिरक्षण गुण को प्रस्थापित करते हैं। विदेशी विद्वान डॉ. शूल और ए.डी. पेटिट ने पिरामिड का प्रयोग करते हुए इसके बहुत अनुभव प्राप्त किए हैं। उनका कहना है कि पिरामिड के अंदर दूध, फल, सब्जियाँ रखी जाएँ तो शीघ्र खराब नहीं होती, जबकि पिरामिड से बाहर रखी हुई यही वस्तुएँ अपेक्षाकृत शीघ्र खराब होने लगती हैं। इससे पुनर्स्थापन का गुण पुष्ट होता है। पिरामिड में एक काँच के गिलास में पानी भरकर रखें और तीन-चार दिन के बाद इस पानी का प्रयोग किसी शारीरिक व्याधि पर करें तो कष्ट में आराम मिलता है। गठिया वात से पीड़ित व्यक्ति तीन पिरामिड अपने पलंग के नीचे संयोजित करके उस पर विश्राम करे तो राहत मिलती है। अनिंद्रा, उच्च रक्तचाप आदि रोगों पर भी इसके प्रयोग सफल रहे हैं। यह पिरामिड के कायाकल्प नामक गुण को प्रकट करता है।

दिल्ली पुलिस के वरिष्ठ अधिकारी श्री सी.बी. सत्यपथी, एम. 27/9, नेताजी नगर, नई दिल्ली में रहते हैं। वे पिरामिड द्वारा असाध्य रोगों का उपचार करते हैं और पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। वास्तव में, पिरामिड केन्द्रीभूत ऊर्जा का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह ऊर्जा सुदूर अन्तरिक्ष में स्थित लाखों-करोड़ों तारा समूहों से प्रेषित होती है। बाह्य ऊर्जा को सम्यक् आकार और स्थिति वाले पिरामिड द्वारा ही संग्रहीत किया जा सकता है।

पृथ्वी के चुंबकीय या भौगोलिक उत्तर तथा स्थान विशेष के अक्षांश के आधार पर पिरामिड की दीवारों की ढाल निश्चित की जाती है। कार्ड बोर्ड, हार्ड बोर्ड या काँच आदि से पिरामिड बनाकर सहज ही लाभ उठाया जा सकता है। पिरामिड बनाने के लिए चार त्रिभुज इस प्रकार बनाए जाए जिनमें आधार 15.7 से.मी. और भुजाएँ 14.95 से.मी. हो। जब चारों त्रिभुजों की भुजाएँ आपस में जोड़ी जाएगी तो सभी की आधार भुजा एक ही आएगी। इसी अनुपात में बड़े से बड़ा पिरामिड भी बनाया जा सकता है।

साधारणतः जैन मंदिर में बनाया जाने वाला शिखर पिरामिड की अनुकृति होता है, जिसके केन्द्र को मूर्ति के साथ इस तरह समायोजित किया जाता है कि मूर्ति अनायास ही कास्मिक एनर्जी की श्रेष्ठ संग्राहक हो जाती है और पूरा मंदिर उर्जा से भर जाता है। ध्यान की विभिन्न मुद्राएँ भी पिरामिड की आकृति का अनुसरण करती मालूम पड़ती है। यदि साधक णमोकार मंत्र की साधना के साथ विभिन्न रंगों से युक्त पिरामिड का उपयोग करें तो बड़े दिव्य/अलौकिक निष्कर्ष सामने आते हैं। मंत्र, पिरामिड और साधक की चेतना- ये तीनों मिलकर अनेक आध्यात्मिक उपलब्धियाँ देते हैं।

णमोकार मंत्र की साधना इस मंत्र के विविध रंगों (श्वेत, लाल, पीला, नीला और काला) के अनुरूप पाँच पिरामिड बनाकर की जा सकती है। श्वेत पिरामिड भाव-शुद्धि, पवित्रता और शान्ति प्रदान करता है। लाल पिरामिड उत्साह, उमंग और जीवनी शक्ति देता है। पीला पिरामिड स्मरण-शक्ति, ज्ञान और बुद्धि देने वाला है। नीला पिरामिड अपराध, क्रोध, बेचैनी से मुक्त करने में सहयोगी बनता है। काला पिरामिड शरीर की प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाने में सहयोगी बनता है।

विशेष उल्लेखनीय यह है कि पिरामिड के शीर्ष बिंदु तथा आसनस्थ साधक के सिर के बीच के फासले का योग्य समायोजन होना चाहिए। हर व्यक्ति की क्षमता भिन्न-भिन्न होने के कारण यह फासला भी हर एक के लिए अलग-अलग होता है। श्रेष्ठ समायोजन होने पर आध्यात्मिक और भौतिक सभी उपलब्धियाँ संभव है।



समवशरण में भव-दर्शन



-डॉ. अभयप्रकाश जैन

समवशरण एक ऐसी धर्मसभा या उपदेश सभा है जहाँ सभी जीवों को समान रूप से शरण मिलती है। जहाँ सभी प्राणी समान रूप से बैठकर तीर्थंकर भगवान की दिव्य ध्वनि को सुनने का अवसर पाते हैं। समवशरण में पहुँचकर भगवान की दिव्य देशना को सुनने वाले लगभग सभी जीव श्रद्धालु और भव्य होते हैं। यहाँ उनकी सभी समस्याओं का समाधान उन्हें अनायास मिल जाता है। इतना ही नहीं बल्कि समवशरण स्थित भामण्डल में और निकटस्थ वापिकाओं में विगत और आगत (यदि आगत भव शेष हैं तो) क्रमशः तीन भव तथा वर्तमान भव प्रतिबिंबित होते हैं। वापिकाओं में सौ भव दिखाई देने का भी कथन है।[1]

वर्तमान विज्ञान के संदर्भ में इस पर विचार करें तो कई तथ्य सामने आते हैं और उपलब्ध धार्मिक दृष्टिकोण विज्ञानसम्मत मालूम पड़ता है। इच्छा शक्ति द्वारा वस्तुओं को प्रभावित करना अब एक स्वतंत्र विज्ञान बन गया है, जिसे साइकोकाइनेसिस (पी.के.) कहते हैं। इस विज्ञान पक्ष का प्रतिपादन है कि ठोस दिखने वाले पदार्थों के भीतर भी विद्युत अणुओं की तीव्रगामी हलचलें जारी रहती हैं। इन अणुओं के अन्तर्गत जो चेतना तत्व विद्यमान है उसे मनोबल की शक्ति-तरंगों द्वारा प्रभावित, नियंत्रित और परिवर्तित किया जा सकता है। इस तरह भौतिक जगत पर मनः शक्ति के नियंत्रण को एक तथ्य माना जा सकता है। डॉ. अलेक्जेण्डर राल्फ ने अपनी पुस्तक 'पॉवर ऑफ माँइंड' में लिखा है कि प्रगाढ़ ध्यान शक्ति द्वारा एकाग्र मानव-मन, शरीर के बाहर स्थित सजीव एवं निर्जीव पदार्थों पर भी इच्छानुकूल प्रभाव डाल सकता है।[2] इससे यह फलित होता है कि अतीन्द्रिय ज्ञान के धारी सर्वज्ञ भगवान का प्रभाव आसपास के सभी पदार्थों पर पड़ता होगा चूंकि भामंडल भगवान की चेतना के चरम विकास का प्रतीक है इसलिए वह चैतन्य दर्पण की तरह अतीत और अनागत को प्रतिबिंबित करने में अधिक सक्षम होगा।

प्रसिद्ध जीवशास्त्री प्रो. फ्रेंक ब्राउन ने कई प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि सृष्टि में जो असंख्य प्राणी हैं वे ऐसे संग्राहक रिसीवर हैं जो ब्रह्माण्ड के स्पन्दन तथा संवेदन ग्रहण करते रहते हैं। संग्राहक का काम करने वाले बहुत सूक्ष्म अणु बताए जाते हैं जिनमें घनत्व, भार, विस्फुटन चुम्बकत्व आदि कोई भौतिक लक्षण नहीं होते।

अन्य वैज्ञानिकों ने भी इस दिशा में खोज की और पाया कि प्रो. फ्रैंक का मत एकदम सही है। संग्राहक का काम करने वाले इन चेतन परमाणुओं को 'न्यूट्रिनो' नाम दिया गया है। वैज्ञानिकों का कहना है कि ये अणु अरबों की संख्या में प्रकाश की गति से बहते रहते हैं। यदाकदा इनमें कुछ विशेष क्रियाशीलता आती है, तभी इन्हें देख पाना संभव होता है।

एण्ड्रिया ड्रान्स नामक वैज्ञानिक ने न्यूट्रिनो के आधार पर ही साइकोन अणु का पता लगाया और कहा कि साइकोन ही मस्तिष्क के न्यूरोन कणों से जुड़कर परा चेतना को जागृत करता है। एक्सेल फरसॉफ नामक अंतरिक्ष वैज्ञानिक ने तो तथ्यों और प्रयोगों के आधार पर यह प्रमाणित कर दिखाया कि मनुष्य को कभी अनायास ही विचित्र अनुभूतियाँ होती हैं उनमें से कुछ खास तरह की अनुभूतियाँ माइण्डॉन नामक कणों के हलचल में आने से होती हैं। जब ये कण सक्रिय होते हैं तो हमारा अवचेतन मन ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ जुड़ जाता है। यदि इन अनुभूतियों को पहचाना या समझा जा सके तो व्यक्ति सहज ही विगत और अनागत से अवगत हो सकता है अन्य ग्रह नक्षत्रों की बातें जान सकता है।[3]

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि अत्यन्त संवेदनशील समर्पित आत्माएँ भामंडल के माध्यम से, जो कि ब्रह्माण्डीय स्पन्दन और संवेदन को ग्रहण करने वाला प्रबल संग्राहक है, ब्रह्माण्डीय चेतना से जुड़ जाती है और अनायास ही विगत और अनागत से सम्पर्क स्थापित कर लेती है। मार्टिन इवॉन ने अपनी पुस्तक 'टू एक्सपीरियन्सेस इन प्रोफेसी' में कई प्रामाणिक घटनाओं का उल्लेख करते हुए यह सिद्ध किया है कि मनुष्य के भीतर अदभुत अलौकिक और विलक्षण क्षमताएँ हैं जिनके द्वारा वह भूत, भविष्य और वर्तमान को देश-काल की सीमाओं से परे जाकर भी देख सकता है। ये क्षमताएँ योग साधना या महापुरुषों के सम्पर्क से सहज ही जागृत हो जाती हैं।

इस तरह समवशरण में विराजे तीर्थंकर भगवान के भामंडल में विगत और अनागत को जान लेना एक सहज वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

संदर्भ

1. तिलोयपण्णति गाथा 848/926
2. अतीन्द्रिय सामर्थ्य : संयोग नहीं तथ्य, लेखक- श्रीराम शर्मा आचार्य एवं डॉ. प्रणव पण्ड्या, प्रकाशक- युग निर्माण योजना गायत्री तपोभूमि मथुरा, 1992 पृष्ठ 45
3. वही पृष्ठ 8-9



आत्मा, मोक्ष एवं विज्ञान



-डॉ. आर.सी. जैन

आत्माएँ संसारी और मुक्त दोनों अवस्थाओं में विद्यमान हैं। संसारी आत्माएँ पुद्गल कर्म से संबद्ध हैं। पूर्व संचित संस्कार या कर्मबंध से उन्हें तद्नुकूल गति, जाति, शरीर आदि मिलते हैं। मुक्त आत्माएँ पुद्गल कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं। कर्म से मुक्त होते ही ये शुद्ध आत्माएँ सिद्धालय में जाकर स्थित हो जाती हैं।

कर्म बंध की प्रक्रिया अत्यन्त वैज्ञानिक हैं। जीव और पुद्गल के बीच होने वाली इस प्रक्रिया की तुलना हम चुम्बक और लौह कण के बीच हुए संबंध से कर सकते हैं। चुम्बकत्व शक्ति आत्मा की अशुद्ध दशा में होने वाली राग-द्वेष से प्रेरित मन, वचन और काय की क्रियाओं के समान है। जिससे पुद्गल वर्गणाएँ कर्म रूप में परिवर्तित होकर आत्मा के साथ एक-मेक हो जाती हैं। तपस्या के द्वारा अर्जित उर्जा के द्वारा इस संबंध को विच्छिन्न किया जा सकता है। मनुष्य की दृढ़ इच्छा शक्ति और आत्मबल से यह कार्य संभव है।

कर्मबंध रहित आत्मा या जीव अमूर्तिक हो जाता है। वह इन्द्रियातीत, अगोचर और सर्वगुण सम्पन्न विशुद्धात्मा अपने स्वाभाविक उर्ध्वगमन स्वभाव के कारण सिद्धालय में पहुँचता है। यह सिद्धालय लोकाकाश एवं अलोकाकाश की सीमा रेखा पर है। क्या इसकी तुलना तमस्काय अथवा कृष्णविवर से की जा सकती है? यह विचारणीय है।

हमारे इस विश्व में कुछ तत्व ऐसे हैं जो निष्क्रिय हैं वे ब्रह्माण्ड की किसी भी क्रिया में सक्रिय भाग नहीं लेते। इनका बाह्य वातावरण पर प्रभाव भी नगण्य है। शुद्धात्मा भी मोक्षदशा में इसी प्रकार निष्क्रियत्व को प्राप्त हो जाती है। वह अपने शुद्ध स्वरूप में निरन्तर परिणमनशील रहकर भी अनन्तकाल तक बाह्य वातावरण से अप्रभावित और अलिप्त रही आती है।



क्या अकाल मृत्यु संभव है?



-डॉ. अनिल कुमार जैन

क्या प्रत्येक द्रव्य की प्रति समय की पर्याय सुनिश्चित है? किस वस्तु में, किस समय, कौन-सी पर्याय उत्पन्न होगी- क्या यह निश्चित है? जैन विद्वानों में, विशेषकर दिगम्बर आम्नाय के विद्वानों में, यह बहुत ही चर्चा का विषय रहा है। इसके पक्ष तथा विपक्ष दोनों में शास्त्रों की अलग-अलग व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं, लेकिन दोनों पक्षों में कोई मतैक्य नहीं है।

जो विद्वान उक्त प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देते हैं, उनके अनुसार इस परिणमनशील जगत की परिणमन- व्यवस्था क्रम-नियमित है। जैसे चलचित्र में दृश्य क्रमशः आते हैं, एक साथ नहीं, उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में पर्याय क्रमशः ही होती हैं, एक साथ नहीं, चल-चित्र में यह भी निश्चित होता है कि किस दृश्य के बाद कौन-सा दृश्य आएगा, उसी प्रकार पर्यायों में भी निश्चित होता है कि किसके बाद कौन-सी पर्याय आएगी। अपने मत को वे जिनेन्द्र देव की सर्वज्ञता से सिद्ध करते हैं। जिनेन्द्र भगवान सभी द्रव्यों की भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी पर्यायों को जानते हैं, अतः जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव से जाना है, उस जीव के उसी देश में, उसी काल में उसी विधान से, वह अवश्य होता है।[1] इसी संदर्भ में एक बात यह भी आती है कि यदि किसी की सड़क दुर्घटना में मृत्यु हो जाती है तो उसे असामयिक निधन या अकाल-मृत्यु कहा जाता है, लेकिन उपर्युक्त कथनानुसार अकाल-मृत्यु जैसी कोई घटना नहीं होती। हम जिसे अकाल-मृत्यु कहते हैं, वस्तुतः वह मृत्यु स-काल ही है, क्योंकि उस समय यह दुर्घटना होनी थी तथा उस व्यक्ति की मृत्यु होनी थी, यह सब तय था।

काल नय तथा अकाल नय

जो विद्वान इन व्याख्याओं से संतुष्ट नहीं हैं, उनका कहना है कि 'प्रत्येक द्रव्य की प्रति समय की पर्याय निश्चित है, अतः जब जैसा होना होगा, वैसा ही होगा', ऐसी मान्यता रखना 'नियतिवाद' है।[2] नियतिवादियों का भी कहना है कि 'जिसका जिस समय जहाँ जो होना होगा वह होता ही है।' तीक्ष्ण शस्त्राघात होने पर यदि मरण नहीं होता है तो व्यक्ति जीवित ही बच जाता है और जब मरने की घड़ी आती है तब बिना किसी कारण के ही जीवन की घड़ी बंद हो जाती है। मनुष्यों को नियति के कारण जो भी शुभ और अशुभ प्राप्त होना है वह अवश्य ही होगा। प्राणी कितना भी प्रयत्न कर ले पर जो नहीं होना है वह नहीं ही होगा और जो होना है उसे कोई रोक नहीं सकता। 'सब जीवों का सब कुछ नियत है, वह अपनी ही गति से होगा' इस प्रकार के नियतिवाद की आचार्यों ने पर मतों यानी जैन मत से भिन्न में गणना की है तथा

ऐसी मान्यता वालों को एकान्त मिथ्यादृष्टि कहा है। जैनधर्म में सर्वदा नियति का एकान्त नहीं है।

इन विद्वानों का कहना है कि जैनधर्म का मूल अनेकान्त है, इसीलिए सर्वज्ञ देव ने नियति नय तथा अनियति नय इन दो परस्पर विरोधी नयों का उपदेश दिया है। सब कुछ काल-व्यस्थित है, ऐसा भी एकान्त नहीं है। जिन जीवों का मरण शस्त्र-प्रहार आदि बाह्य कारणों के बिना होता है उनका मरण-काल व्यवस्थित है, किन्तु शस्त्र प्रहार आदि बाह्य कारणों से जिनका मरण होता है उनका अपमृत्यु काल उत्पन्न होता है। सर्वज्ञ देव ने भी काल नय तथा अकाल नय इस प्रकार दो परस्पर विरोधी नय कहे हैं। यदि सर्वज्ञ देव इन दोनों में से एक ही नय को कहते तो एकान्त मिथ्यात्व का दूषण आ जाता। काल नय तथा अकाल नय का स्वरूप सर्वज्ञ देव ने इस प्रकार कहा है : 'काल नय से कार्य की सिद्धि समय के अधीन है, जैसे आम गर्मी के दिनों में पकता है, अतः काल नय से कार्य अपने व्यवस्थित समय पर होता है, अर्थात् काल के अनुसार होता है। अकाल नय से कार्य की सिद्धि समय के अधीन नहीं है, जैसे- आम को पाल लगाकर कृत्रिम गर्मी से पका लिया जाता है, अतः अकाल नय से कार्य होने का काल व्यवस्थित नहीं है।[3]

अकाम निर्जरा तथा सकाम निर्जरा

अकाम निर्जरा तथा सकाम निर्जरा को भी आचार्यों ने आम का उदाहरण देकर समझाया है। निर्जरा दो प्रकार की होती है। जब कर्मों का उदय अपने समय पर होता है, तब उसे अकाम निर्जरा कहते हैं और जब कर्मों को तप द्वारा समय से पहले ही उदय में लाया जाता है तब उसे सकाम निर्जरा कहते हैं। मुनिराज अपने कर्मों की निर्जरा सकाम रीति से करते हैं।

यहाँ कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि बाँधे हुए कर्म एक निश्चित समय पर उदय में आएंगे, ऐसा एकान्त नहीं है। इसी प्रकार किसको कितने वर्ष तक जीना है यह उसके बांधे हुए आयु कर्मों के खिरने (निर्जरा) पर निर्भर करता है। आयु कर्म के निषेक निश्चित होते हैं। वे प्रति समय एक निश्चित आवृत्ति में खिरते रहते हैं। सामान्य परिस्थितियों में इन निषेकों के खिरने की आवृत्ति निश्चित रहती है, लेकिन सड़क दुर्घटना आदि में मृत्यु के समय सारे निषेक एक साथ खिर जाते हैं। इस प्रकार निषेकों का खिरना समय के अधीन नहीं है, अतः यह मानना भी उचित नहीं है कि मरण हमेशा एक निश्चित समय पर ही होता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

अभी तक हमने अकाल मरण पर अलग-अलग विद्वानों के अलग-अलग मतों की चर्चा की। सारांश में कुछ विद्वान सर्वज्ञ देव की सर्वज्ञता को लेकर यह सिद्ध करते हैं कि 'अकाल मरण' नाम की कोई बात नहीं होती। हम जिसे अकाल मरण समझते हैं वह वस्तुतः सकाल मरण है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान को उस घटना के बारे में पहले से ही पता था कि वह घटना अमुक समय पर घटनी है। दूसरी ओर विद्वानों का कहना है कि जिनेन्द्र भगवान की सर्वज्ञता के आधार पर अकाल मरण का खण्डन करने से एकान्त मिथ्यात्व का दोष लगता है, क्योंकि

जिनेन्द्र भगवान ने ही दो परस्पर विरोधी नयों, काल नय तथा अकाल नय और नियतिनय तथा अनियति नय की बात कही है, अतः मरण काल व्यवस्थित भी है तथा व्यवस्थित नहीं भी है। यही अनेकान्त है, जो कि जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है।

इस प्रकार यह एक बहुत ही उलझी हुई समस्या है, जिसके समाधान के लिए हम विज्ञान का सहारा लेना चाहेंगे। विज्ञान जिस बात को प्रयोग द्वारा सिद्ध कर देता है, उसे सत्य मानता है। जिसे प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सके, उसे हमें भी स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पहले हम विज्ञान की अलग-अलग विधाओं- आहार एवं स्वास्थ्य विज्ञान, भौतिक विज्ञान तथा जीव विज्ञान के आधार पर यह विचार करेंगे कि क्या किसी जीव या व्यक्ति की आयु बढ़ सकती है? और यदि आयु बढ़ सकती है तो आयु घट भी सकती है, अतः अकाल मरण स्वतः ही सिद्ध हो जाएगा।

(1) आहार एवं स्वास्थ्य-विज्ञान

हमारे खान-पान का स्वास्थ्य पर सीधा असर पड़ता है। यह एक आम धारणा है कि जो व्यक्ति नित्यप्रति व्यायाम करता है, सात्विक भोजन करता है तथा अपने स्वास्थ्य के प्रति सजग रहता है, उसकी आयु औसत से कहीं अधिक होती है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने खान-पान का विशेष ध्यान नहीं रखते तथा जो बीमार रहते हैं उनकी आयु औसत से कम ही होती है। जापान तथा रूस में अनेक ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं, जिनकी आयु सौ वर्ष के लगभग या उससे अधिक है। ये लोग शाकाहार लेना पसंद करते हैं, पहाड़ों पर खुली एवं स्वच्छ हवा में रहते हैं, तथा सामान्यतः प्राकृतिक चिकित्सा पर ही निर्भर रहते हैं।

यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि खान-पान ठीक होने से तथा स्वच्छ वायु एवं जल का सेवन करने से स्वास्थ्य ठीक रहता है तथा व्यक्ति अपनी पूरी आयु जीता है अन्यथा वह अपनी पूरी आयु नहीं जी पाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि खान-पान ठीक होने से आयु औसत से अधिक बढ़ सकती है।

यदि इसी बात को हम व्यक्ति-विशेष के लिए कहें कि अमुक व्यक्ति अपने सात्विक एवं संतुलित आहार के कारण औसत से अधिक वर्ष जिन्दा रहा, तो नियतिवादी इस बात को इस प्रकार कहेगा कि उस व्यक्ति को वैसा ही खाना था, उसे स्वस्थ रहना ही था तथा उसे इतनी आयु पूरी करनी ही थी। उसकी आयु इतनी ही थी। सर्वज्ञता के आधार पर कहा जाएगा कि सर्वज्ञ ने उसे इतना ही जिन्दा रहना देखा था, अतः आयु अधिक होने का प्रश्न ही नहीं है। यदि कोई व्यक्ति ज़हर खाता है तो उसका जीवन नष्ट होगा ही। विषयुक्त भोजन करने पर मृत्यु होने से भी नियतिवादी का यही कहना रहता है कि उसे विष खाकर मृत्यु को प्राप्त होना ही था तथा उसे इतना ही जीवित रहना था जबकि आहार तथा स्वास्थ्य दृष्टि से यह कहा जाएगा कि व्यक्ति विष खाने से मरा, यदि वह विष नहीं खाता तो और जिन्दा रहता, अतः आहार एवं स्वास्थ्य विज्ञान की दृष्टि से व्यक्ति औसत से अधिक आयु पा सकता है और यदि विषपान करे तो अपनी आयु पूरी करने से पहले ही मर सकता है।

(2) भौतिक विज्ञान

महान् वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टाइन ने 'सापेक्षतावाद का सिद्धान्त' प्रतिपादित किया। इस सिद्धान्त ने विश्व भर के न सिर्फ वैज्ञानिकों को बल्कि अनेक दार्शनिकों को भी प्रभावित किया। इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि दो घटनाओं के मध्य का समय अन्तराल दो अलग-अलग फ्रेमों में अलग-अलग होगा।

मान लो कि दो फ्रेमें S तथा S' हैं। फ्रेम S फ्रेम S' के सापेक्ष में V गति से भ्रमण कर रहा है। दोनों फ्रेमों में एक-एक घड़ी रखी हुई है। चूँकि S' फ्रेम स्थिर है, अतः इसमें रखी घड़ी भी स्थिर है। इसी फ्रेम में बैठा एक प्रेक्षक घटनाओं का निरीक्षण कर रहा है। यदि दो घटनाओं के मध्य फ्रेम S' के समय अन्तराल T_0 है तो फ्रेम S में जो कि V गति से फ्रेम S' के सापेक्ष भ्रमण कर रहा है, इन्हीं दो घटनाओं के मध्य का समय अन्तराल T निम्न प्रकार से होगा -

$$T = \frac{T_0}{\sqrt{1-v^2/c^2}}$$

यहाँ C प्रकाश का वेग है, जिसका मान $3x10^{10}$ से.मी. प्रति सेकंड है।

उपर्युक्त सूत्र से स्पष्ट है कि फ्रेम S में समय अन्तराल T_0 से अधिक होगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि फ्रेम S में घड़ियाँ धीमी गति से चलेंगी। यदि दो घटनाएँ जन्म तथा मृत्यु हैं तो किसी व्यक्ति की आयु यदि फ्रेम S में देखी जाए तो वह फ्रेम S' के मुकाबले कम होगी या हम यह कह सकते हैं कि यदि कोई व्यक्ति पृथ्वी के चारों ओर तेज गति से परिभ्रमण करे तो उसकी आयु बढ़ जाएगी।

इस प्रकार सापेक्षतावाद के सिद्धान्तानुसार व्यक्ति की आयु बढ़ सकती है।

(3) जीव-विज्ञान

कुछ वर्ष पूर्व एक समाचार छपा था। रूस के सुदूर पूर्वी बर्फीले क्षेत्र में कुछ खान मजदूर सोने की खानों में खुदाई कर रहे थे। वहाँ उन्होंने ग्यारह मीटर बर्फ की मोटी तह के नीचे दबे छिपकलीनुमा एक ऐसे जन्तु को पाया जो जीवित था। इस प्राणी का वैज्ञानिक परीक्षण कराया गया। कार्बन डेटिंग से पता लगा कि यह प्राणी 90 वर्ष पूर्व परमाफ्रौस्ट में फ्रीज हो गया था। सामान्यतः इस प्राणी की आयु दस वर्ष से अधिक नहीं होती है, लेकिन 90 वर्षों तक सुषुप्त अवस्था में फ्रीज रहने के बाद पुनः उसमें हलन-चलन प्रारंभ हो गई तथा वह सामान्य तरीके से जीने लगा। वैज्ञानिकों के अनुसार इस प्राणी का लीवर सबसे बड़ा होता है। इस लीवर का वजन शरीर के पूरे वजन का लगभग एक तिहाई होता है। जब शरीर ठंडा हो जाता है, तब इस लीवर में पूर्व-निहित ग्लाइकोजन ग्लिसरीन में परिवर्तित

हो जाता है जो कि पूरे शरीर में फैल जाता है। ग्लिसरीन एक अच्छा एन्टी-फ्रीज होने से जानवरों के सैल्स (कोशिकाएँ) को क्रिस्टल होने से बचा लेता है।

उस प्राणी के इतने समय तक जीवित रहे आने का कारण कुछ भी हो, निष्कर्ष यह है कि जीवित प्राणियों की आयु सामान्य से दस गुना तक बढ़ सकती है। उक्त प्राणी की सामान्य आयु तो मात्र दस वर्ष की होती है, लेकिन वह नब्बे वर्ष से अधिक जीवित रह सका।

जीवित प्राणियों के फ्रीज करने की प्रक्रिया को जीव विज्ञान के विद्यार्थियों को प्रयोग करके भी दिखाया जाता है। इसमें द्रवित नाइट्रोजन (जिसका तापमान शून्य से काफी कम होता है) में एक छोटी जीवित मछली को डाल दिया जाता है। अतिशीत होने से मछली फ्रीज होने लगती है और पूर्ण रूप से फ्रीज होने पर वह सुषुप्त अवस्था में आ जाती है। इस मछली को जब तक चाहें तब तक ऐसी स्थिति में रखा जा सकता है। इस फ्रीज्ड (जमी हुई) मछली को द्रवित नाइट्रोजन से बाहर निकाल कर देखें तो वह एक सूखे कागज की तरह लगेगी। इसे छिटकारने से भी कुछ फर्क नहीं पड़ेगा। यदि हम इसे फिर से पूर्वावस्था में लाना चाहें तो इसे कुछ गर्मी देनी होगी। सामान्य ताप आते ही वह फिर से सामान्य अवस्था में आ जाती है और फड़फड़ाने लगती है। जैसा कि हमने छिपकलीनुमा प्राणी के बारे में कहा, वैसे ही मछली को भी हम जब तक चाहें तब तक इस फ्रीज्ड अवस्था में रख सकते हैं और इसे भी सामान्य आयु से अधिक समय तक जीवित रख सकते हैं।

गाय तथा भैंस जैसे उपयोगी जानवरों में कृत्रिम गर्भाधान कराना सामान्य-सी बात है। इसके लिए अच्छी किस्म के नर-पशुओं के वीर्य को मादा पशु के गर्भाशय में प्रविष्ट कराया जाता है। कई बार तो यह विदेशों तक से मँगाया जाता है। वीर्य भी जीव होता है। इसकी सामान्य औसतन आयु कुछ घंटों की होती है, लेकिन विदेशों से यहाँ तक लाने में तो काफी समय लग जाता है, इस फ्रीज्ड वीर्य को महीनों तक जीवित रखा जा सकता है। आजकल तो विदेशों में पुरुषों के वीर्य के लिए भी बैंक खुल गए हैं, उन्हें वर्षों तक सुरक्षित रखने की व्यवस्था रहती है। यहां से भी स्पष्ट है कि जीवित प्राणी (जैसे- वीर्य, मछली, छिपकलीनुमा प्राणी) की आयु वर्षों तक बढ़ाई जा सकती है।

जीवित प्राणियों के इस तरह फ्रीज होने के इन उदाहरणों से प्रेरित होकर अमेरिका के कुछ अमीर लोगों ने एक संस्था बनाई जिसका नाम रखा- 'फ्रीज योरसेल्फ'। इस संस्था का उद्देश्य वर्षों तक मनुष्यों को जीवित रखने का था। बहुत से अमीर युवा जो ऐसी बीमारी से ग्रस्त हैं, जिसका इलाज आज संभव नहीं है तथा वे कुछ दिनों के मेहमान हैं, लेकिन वे अधिक जीवित रहना चाहते हैं तो वे इस संस्था में 20 या 50 वर्षों तक फ्रीज रह सकते हैं। उन्हें यहाँ शुल्क देना होता है। वे इस उम्मीद में फ्रीज होते हैं कि हो सकता है कि आने वाले 20-40 वर्षों में चिकित्सा के क्षेत्र में इतनी तरक्की हो जाए कि उस बीमारी का इलाज कर पायें। कैंसर तथा एड्स जैसी बीमारियों का इलाज आज संभव नहीं है, लेकिन चिकित्सा

विज्ञान की तरक्की देखते हुए लगता है कि आगे आने वाले 20-25 वर्षों में इनका इलाज संभव हो सकेगा। जो अमीर व्यक्ति इन बीमारियों से ग्रस्त हैं, वे स्वयं को 20-25 वर्षों के लिए फ्रीज करा सकते हैं। 20-25 वर्ष बाद उन्हें पुनः सामान्य अवस्था में लाया जा सकेगा तथा तब उनका इलाज किया जा सकेगा जिससे वे और अधिक जी सकें।

उक्त सभी विवरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि असामान्य परिस्थितियों में जीवों की आयु बढ़ सकती है।

दार्शनिक समाधान

यदि किसी जीव की आयु बढ़ सकती है तो एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जीव द्वारा बाँधे गये आयु कर्म तो निश्चित है, फिर उसकी आयु कैसे बढ़ सकती है? लेकिन इसका समाधान संभव है। यह सही है कि आयु कर्म के निषेक तो निश्चित है, लेकिन उनके खिरने की दर निश्चित नहीं है। यह दर कम भी हो सकती है और बढ़ भी सकती है, तथा सामान्य परिस्थितियों में खिरने की दर सामान्य रहती है यदि किसी प्राणी (जीव) को फ्रीज कर दिया जाए तो निषेकों के खिरने की दर बहुत धीमी हो सकती है और यदि कोई जीव प्राणी की आकस्मिक दुर्घटना में मृत्यु हो जाए तो उसके आयु कर्म के निषेक एक साथ खिर जाएँगे। अन्य कर्म-परमाणुओं के साथ भी ऐसा ही होता है। मुनिराज भी सकाम निर्जरा द्वारा अर्थात् तप वगैरह से कर्मों को समय से पहले ही खिराते हैं। इससे स्पष्ट है कि कर्मों को समय से पहले खिरा सकते हैं तथा समय के बाद भी खिरा सकते हैं।

इस प्रकार कोई कितने वर्ष जीवित रहेगा यह उसके बाँधे हुए निषेकों के खिरने की दर पर निर्भर करता है। निषेक किस दर से खिरेंगे, यह मौजूदा परिस्थितियों पर निर्भर करता है, अतः इस दृष्टि से आयु-काल नियत नहीं है। जिस प्रकार फ्रीज हो जाने पर जीव की आयु बढ़ सकती है, उसी प्रकार आकस्मिक दुर्घटना में मृत्यु के कारण आयु घट भी सकती है।

यहाँ पर नियतिवादी फ्रीज़ किए गए जीव के लिए पुनः वही बात दोहरा सकते हैं कि उस जीव को फ्रीज होना ही था, उसके निषेकों के खिरने की दर धीमी होनी ही थी तथा उस जीव को अधिक समय तक जीना ही था, लेकिन यह बात तर्कसंगत नजर नहीं आती है, क्योंकि किसी भी जीव को फ्रीज किया जा सकता है। कोई अमुक जीव ही फ्रीज होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक जीव को फ्रीज किए जाने की संभावना समान है। दूसरी बात यह है कि आयु में थोड़ा बहुत अन्तर होना अलग बात है, लेकिन सामान्य आयु से आठ-दस गुना तक बढ़ जाना एक अलग बात है। किसी भी प्राणी को फ्रीज करके उसकी आयु को सामान्य से कई गुना अधिक किया जा सकता है, अतः नियतिवादियों की उपर्युक्त अवधारणा सही प्रतीत नहीं होती।

उपयुक्त वैज्ञानिक विश्लेषणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी प्राणी की आयु बढ़ सकती है और घट भी, अतः अकाल मृत्यु भी संभव है। शास्त्रों में भी कथन है कि

अकाल मृत्यु इन कारणों से हो सकती है : विष-भक्षण से, वेदना की पीड़ा से, रक्त बह जाने से, भय से, शस्त्राघात से, संक्लेश परिणाम से, आहार तथा श्वास के निरोध से। [4]

अकाल मृत्यु के समय बाँधे हुए आयु कर्मों के सभी निषेक एक साथ खिर जाते हैं।

संदर्भ

(1) 'क्रमबद्ध पर्याय', डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल।

(2) 'नियतिवाद', प्रो. महेन्द्र कुमार न्यायतीर्थ, 'अनेकान्त' नवम्बर 1956 पृ. 85।

(3) 'अकाल मरण', सैद्धान्तिक चर्चा : प्रश्नोत्तर, ब्र. रतनचन्द्र जैन मुख्त्यार।

(4) 'भाव पाहुड', आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा-25, 26।



अपघटन और तप



-डॉ. आराधना जैन

जैन दर्शन के अनुसार तप आत्मशक्ति का उद्घाटन करने की प्रक्रिया है। जैसे अग्नि की ऊष्मा से किसी वस्तु का मैल जलकर भस्म हो जाता है या वस्तु से पृथक् हो जाता है और उसका मूल स्वरूप हमारे सामने आ जाता है, उसी प्रकार तप के प्रभाव से आत्मा पर लगे कर्म, दोष, कालुष, राग, द्वेष आदि जल जाते हैं तथा आत्मा अपने सहज स्वभाव में प्रकट होने लगती है।

जैनदर्शन का तप रसायन विज्ञान की अपघटन क्रिया के समान है। अपघटन वह क्रिया है जिसके द्वारा यौगिक के संघटित तत्व पृथक होकर अपनी शुद्ध/मूल अवस्था में आ जाते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि यौगिक क्या है? दो या दो से अधिक तत्वों के निश्चित अनुपात में संघटित होने से बना पदार्थ यौगिक कहलाता है।[1] यौगिक की प्रमुख विशेषता है कि उसके गुण अपने घटक तत्वों के गुणों से भिन्न होते हैं, जैसे दो अनुपात हाइड्रोजन गैस और एक अनुपात ऑक्सीजन गैस के रासायनिक विधि द्वारा मिलने पर पानी बनता है। हाइड्रोजन गैस नीली लौ के साथ जलती है और ऑक्सीजन गैस जलने में सहायक है पर इन दोनों के योग से बना पानी आग को बुझाता है।

यौगिक के घटकों को सरल भौतिक विधियों द्वारा पृथक नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनके अणुओं/परमाणुओं के मध्य में विद्युत संयोजी बंध (आयनिक बांड), सहसंयोजी बंध (को-व्हेलेन्ट बांड) या उप सहसंयोजी बंध (को-आर्डीनेट-को व्हेलेन्ट बांड) होता है।[2] इस बंध के कारण उनमें ऐसा आकर्षण बल रहता है जिससे वे जुड़े रहते हैं। यदि हम यौगिक से उसके तत्व/घटक प्राप्त करना चाहें तो अपघटन विधि का अवलम्बन लेना पड़ेगा। यह अपघटन चाहे ऊष्मा द्वारा हो या विद्युत के द्वारा। उदाहरणार्थ पारा और ऑक्सीजन के समान अनुपात में मिलने पर 'मरक्युरिक आक्साइड' यौगिक बनता है। इस यौगिक के अणुओं के बीच में विद्युत संयोजी बंध होता है। जब इसे उच्च ताप पर गर्म करते हैं तो इनके मध्य का आकर्षण बल/विद्युत संयोजी बंध समाप्त हो जाता है तथा पारा और आक्सीजन शुद्ध अवस्था में प्राप्त होते हैं -



$$2Hg^{O} \xrightarrow{\text{ऊष्मा}} 2Hg + O_2$$

विद्युत अपघटन के द्वारा पानी यौगिक से उसके मूल तत्व प्राप्त किए जा सकते हैं। इसके लिए H आकार का कांच का उपकरण लेते हैं। उसमें शुद्ध जल भर कर एक-दो बूंद H_2SO_4

मिला कर विद्युत धारा प्रवाहित करते हैं। जल का विद्युत अपघटन होने लगता है। कैथोड़ पर हाइड्रोजन और एनोड पर आक्सीजन गैस मुक्त अवस्था में प्राप्त होती है।[3]



$$H_2O = H^+ + OH^-$$



$$2H^+(ag) + 2c^- \longrightarrow H_2\,(g)$$ कैथोड पर



$$2OH^-\,(ag) \longrightarrow H_2O\,(1) + 1/2\,O_2\,(g) + 2e'$$ एनोड पर

मरक्युरिक आक्साइड या पानी के समान ही 'सजीव' एक यौगिक है जो 'आत्मा' और 'पुद्‌गल कर्मों' के योग से निर्मित है। इस यौगिक के बनने में मूल कारण है स्निग्धता/रागादिभाव। आत्मा रागादि भावों को करता हुआ उसी प्रकार कर्म रज से लिप्त होता है जैसे कोई पुरुष अपने शरीर पर तैल/स्निग्ध पदार्थ लगाकर धूली वाले स्थान पर व्यायाम करता है उस समय तैल की चिकनाहट से उसके तन पर धूल चिपक जाती है।[4] रागादि विकारी भावों के कारण ही आत्मा से पुद्‌गल कर्म (ज्ञानावरण आदि) बंधते हैं। इस प्रकार कर्मों के साथ मिल कर आत्मा अपने स्वभाव/स्वरूप को भूल जाती है। वह जड़ शरीर और उससे सम्बद्ध चेतन-अचेतन पर पदार्थों में राग-द्वेष, मोह, अहंकार, ममत्व भाव व्यक्त करती है, जिससे वह ज्ञानानन्दमय उर्ध्वगमन स्वभाव की ओर गमन न कर संसार में परिभ्रमण करती है। अतएव हम कह सकते हैं 'सजीव' आत्मा और कर्मों [5] का यौगिक है। इस यौगिक के दोनों तत्वों के मध्य राग के भाव बंध और कर्मों के द्रव्यबंध का तीव्र आकर्षण बल है। इसी बंध के कारण आत्मा अपने लक्ष्य से च्युत होकर संसार में गोते लगा रही है-

$$\text{आत्मा+कर्म} \xrightarrow{\text{राग}} \text{सजीव}$$ [6]

'सजीव' यौगिक से आत्मा अपनी शुद्ध अवस्था को उस समय प्राप्त कर सकती है जब आत्मा और कर्मों के मध्य का रागरूपी आकर्षण क्षीण होकर टूट जाए। इसका उपाय है- तप। तप से नूतन कर्मबंध नहीं होता और पूर्वोपचित कर्मों का क्षय भी होता है। इसीलिए उमास्वामी ने तत्वार्थसूत्र में कहा है- तपसा निर्जरा च।[7] यद्यपि नवीन कर्मबंध रोकने और पूर्व संचित कर्मों के क्षय करने में त्रिगुप्ति, पंचसमिति, उत्तम क्षमादि दश धर्म, अनित्यादि द्वादश अनुप्रेक्षाओं एवं क्षुधादि बाईस परीषहजयों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है [8] तथापि यहाँ विषय की परिसीमा में रह कर तप का अपघटन के रूप में प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है।

इच्छाओं का निरोध करना तप है- इच्छा निरोधः तपः हमारे आचार्यों ने इस सूत्र के द्वारा आत्म शोधन कर शुद्ध अवस्था को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त किया है। इच्छाओं का निरोध होने पर संतुष्टि/शांति मिलती है जिससे रागादि विकारी भाव क्षीण होकर समाप्त हो जाते हैं। आज का मानव इस सूत्र को भूलकर फेमिली प्लानिंग के लिए ऐसे निरोध का प्रयोग कर रहा है जिसकी सफलता की पूर्ण गारंटी नहीं है और इच्छाओं के निरोध का तो प्रश्न ही नहीं है। इसलिए वह अशान्त, क्षुब्ध और अनेक समस्याओं में जकड़ा हुआ है। वह अपनी समस्याओं का समाधान तो खोजना चाहता है पर उसको सही पथ प्रदर्शक नहीं मिला, यदि मिला भी तो उसने उनकी बात पर अमल नहीं किया। यदि हम यथार्थ में सुख-शांति चाहते हैं, आत्मा को शुद्ध बनाना चाहते हैं तो तप का अवलम्बन लेना पड़ेगा।

जब 'सजीव' को तप के द्वारा ऊष्मा दी जाती है तब तो आत्मा और कर्मों के बीच स्थित रागरूपी आकर्षण बल/बंध कमजोर होकर टूटने लगता है। कर्मों की निर्जरा आरम्भ हो जाती है। आत्मा के विकारी भाव/कर्म तप की ऊष्मा में शुद्ध होकर पृथक होने लगते हैं। जब सारे कर्म दग्ध/क्षय हो जाते हैं तब आत्मा अपनी शुद्ध अवस्था में आ जाती है।

$$\text{सजीव} \xrightarrow{\text{तप}} \text{आत्मा} \uparrow {}^{9} + \text{कर्म}$$

तप एक विद्युत अपघटन क्रिया भी है। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं -

सजीव यौगिक विद्युत अपघटन (इलेक्ट्रोलाइट) पदार्थ है। इसमें आत्मा पर धन आवेश (+) तथा कर्म पर ऋण आवेश (-) है। इस अपघटन में अनादि काल से अधर्म (मिथ्याद-र्शन-ज्ञान-चरित्र) का एनोड पड़ा हुआ है। जब इस अपघट्य में धर्म (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र) का केथोड डालकर तप की बेटरी से जोड़ कर विद्युत धारा प्रवाहित की जाती है तब धारा के प्रभाव से राग का आकर्षण बल क्षीण होकर टूटने लगता है। आत्मा और कर्म पृथक होकर अपने विपरीत आवेश के इलेक्ट्रोड की ओर जाने लगते हैं अर्थात आत्मा धर्म के केथोड की ओर चली जाती है और कर्म एनोड की ओर चले जाते हैं। जब यह क्रिया पूर्ण हो जाती है तब आत्मा अपनी शुद्ध अवस्था में आ जाती है-

$$\text{सजीव} \xrightarrow{\text{तप}} \text{आत्मा} \uparrow + \text{कर्म}$$

तप ऊष्मा या विद्युत के द्वारा होने वाली ऐसी रासायनिक अपघटन क्रिया है जिससे आत्मा अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर पुनः विकृत नहीं होती और न ही अपनी पूर्वावस्था में आ सकती है, जैसे मक्खन को तपा कर घी बनाया जाता है। घी शुद्धतम अवस्था है। वह

न तो कभी विकृत होता है और न ही अपनी पूर्वावस्था में आ सकता है। (घी पुनः मक्खन नहीं बन सकता) अतएव तप एक अपघटन क्रिया है। तप किस प्रकार अपघटन कर सजीव यौगिक से आत्मा को पृथक कर शुद्ध/मुक्त अवस्था में पहुँचता है यह जानने का प्रयास करें-

तप आत्म शोधन और कर्मक्षय की एक अखंड प्रक्रिया है किन्तु विधियों और प्रक्रियाओं के आधार पर दो रूपों में विभाजित है- बहिरंग तप और अंतरंग तप। इनमें प्रत्येक के छह-छह भेद हैं-

बहिरंग तप-अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्तशय्यासन (प्रतिसंलीनता) और कायक्लेश।[10]

अंतरंग तप- प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।[11]

बहिरंग तप

अनशन तप- अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करने के लिए आहार का त्याग कर आत्म स्वरूप में लीन होना उपवास/अनशन है। इससे शारीरिक विकार दूर होते हैं, सहज ही स्फूर्ति आती है, चंचल चित्तवृत्तियाँ शान्त होकर सोद्देश्य बनती है। अनशन तप शरीर के प्रति ममत्व भाव घटाकर आत्म शोधन करता है।

अवमौदर्य तप- इसका तात्पर्य है भूख से कम खाना। यह तन की भूख के साथ मन के वेग को भी नियंत्रित करता है। तन और मन के नियंत्रित होने से इच्छाएँ सीमित होती हैं और अन्तःकरण पवित्र होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होती है।

वृत्ति परिसंख्यान तप- इसका शब्दार्थ है वृत्ति का परिमाण अर्थात भोजन-भाजन आदि की संख्या निर्धारित कर उनका ही उपयोग करना। यह आत्मा की आन्तरिक संचयित भूख को सीमित करता है। इससे धैर्य गुण की वृद्धि होती है। यह तप आशा, तृष्णा आदि विकारी भावों का उच्छेद कर आत्म शोधन में सहायता करता है।

रस परित्याग तप- घी, दूध, दही आदि विकार वर्धक पदार्थों को भोजन से हटाना/ग्रहण न करना रसपरित्याग तप है। अनासक्त भाव से एक या दो रस ग्रहण करना तथा ग्रहण किए गए रस पर राग के अंकुर न जमने देना रस परित्याग तप है। यह तप रसना इन्द्रिय को नियंत्रित करने के लिए रस्सी का कार्य करता है। इससे साधक इन्द्रियेच्छा और असंयम का निरोध कर आत्मशोधन की दिशा में आगे बढ़ता है।

विविक्तशय्यासन तप- इसका अपर नाम प्रतिसंलीनता तप है। इसमें निर्दोष एकान्त स्थान में प्रमाद रहित बैठ कर इन्द्रियों की वृत्ति को विषयासक्ति से हटाकर आत्मोत्थान में लगाया जाता है। यह चित्त की व्यग्रता को दूर करता है जिससे रागादि विकारी भाव क्षीण होते हैं।

कायक्लेश तप- कायक्लेश का तात्पर्य शरीर को परिताप देना नहीं वरन् शरीर और आत्मा की भिन्नता को जानना और अनुभव करना है। इसमें साधक यह चिन्तन करता है कि मैं देह नहीं हूँ, देह में हूँ। इससे वह अन्तर्द्वन्द से मुक्त हो जाता है।

अंतरंग तप

प्रायश्चित तप- इसमें साधक अपने दोषों को पहचानता है, उन्हें स्वीकार कर उनके प्रति ग्लानि, पश्चाताप, आलोचना करता है। दोषों की यह आत्मस्वीकृति एक ओर साधक का आत्मबल बढ़ाती है वहीं दूसरी ओर वह साधना के मार्ग को निर्विघ्न/निरापद बनाती है। दोषों का शोधन होने से चित्त निर्मल/निष्कपट हो जाता है, फल स्वरूप कर्ममल क्षीण होते हैं और आत्मशोधन होता है।

विनय तप- पूज्य/रत्नत्रयधारी पुरुषों के प्रति नम्र वृत्ति धारण करना विनय है। कषायों, इन्द्रियों को नम्र करना विनय है।[12] विनय तप अहंकार को गलाता है। इससे चंचल चित्तवृत्तियाँ नम जाती हैं। वे उत्तरोत्तर मृदु होने लगती हैं परिणाम स्वरूप कर्ममल आत्मा से पृथक होने लगते हैं।

वैयावृत्य तप- वैयावृत्य अर्थात् सेवा कार्य में व्यावृत्त होना, सेवा करना। निष्काम भाव से ग्लानि रहित होकर स्व पर सेवा में और आवश्यकतानुसार सहयोग या अनुकूलता प्रदान करना वैयावृत्य तप है। इससे परस्पर का आचार सधता है, विचिकित्सा दूर होती है, जिससे द्वेष नामक विकारी भाव दूर होता है। विकारी भाव के हटने से कर्म निर्जरा होती है।

स्वाध्याय तप- स्वयं के द्वारा, स्वयं में, स्वयं का अध्ययन स्वाध्याय तप है। इससे मन के आकाश पर छाये विकार के बादल छंट जाते हैं और स्वभाव का सूरज अपनी सम्पूर्ण प्रखरता में दमकने लगता है। ऐसी निर्मल साधना में डूबा मन इन्द्रियों के घेरे से निकल भागता है।[13] अर्थात् उसकी विषयेच्छा का निरोध हो जाता है। राग का बंध शीघ्रता से टूटने लगता है। आत्मा अपने ज्ञान स्वरूप का आस्वादन करने लगती है।

व्युत्सर्ग तप- व्युत्सर्ग का अर्थ है छोड़ना, त्यागना/अहंकार और ममकार रूप संकल्प का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। इसमें साधक बंध के हेतुभूत आहार, शरीर आदि बाह्य तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अंतरंग दोषों का विसर्जन करता है।[14] इससे कर्म रूपी धूल उसी प्रकार पृथक हो जाती है जैसे कायोत्सर्ग करने पर अंगोपांगों की संधियाँ भिद जाती हैं।[15]

ध्यान तप- एक विषय में (आत्म द्रव्य में) चित्तवृत्ति को केन्द्रित करना/ रोक ध्यान है। यह साधक के चित्त को आत्म द्रव्य में केन्द्रित और घनीभूत करता है। चित्त की इस एकाग्रता के कारण स्वभाव प्रस्फुटित होता है और विभाव क्रमशः ध्वस्त और फीका पड़ जाता है। ध्यान की अग्नि इतनी प्रखर होती है कि सारी विकृत्तियाँ उसमें पड़ कर नष्ट हो जाती हैं और आत्मा का अविकारी स्वरूप भासित होने लगता है।[16] ध्यान की इस प्रक्रिया को जानने के लिए

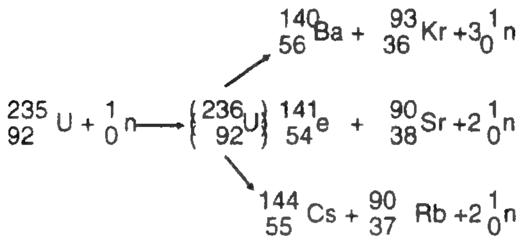
नाभिकीय विखण्डन (न्यूक्लरफिशन) और नाभिकीय संलयन (न्यूक्लर फ्यूजन) को समझना आवश्यक है।

नाभिकीय विखण्डन[17] (न्यूल्कर फिशन)- जब भारी नाभिक यूरेनियम, प्लेटीनम आदि पर मन्द न्यट्रानों का प्रहार किया जाता है तो वह बेरियम और क्रिप्टान में टूट जाता है। इस प्रकार की विखण्ड क्रिया को नाभिकीय विखण्डन कहते हैं-



$$^{235}_{92}U + ^{1}_{0}n \longrightarrow ^{141}_{56}Ba + ^{92}_{36}Kr + 3^{1}_{0}n +$$

हान तथा स्ट्रासमेन ने पाया कि U-235 के नाभिकीय विखण्डन से 141/56 Ba तथा 12/36 Kr बनते हैं किन्तु अब ज्ञात है कि Compound Nucleus 236/92 U के विखण्डन से 40 अलग-अलग तत्वों के 160 आइसोटोप प्राप्त हो सकते हैं। अभी तक विखण्डन उत्पाद के रूप में 60 से अधिक तत्व प्राप्त किए जा चुके हैं, जिनमें निम्नलिखित क्रियायें प्रमुख हैं-



$$^{235}_{92}U + ^{1}_{0}n \longrightarrow \left\{^{236}_{92}U\right\} \begin{cases} ^{140}_{56}Ba + ^{93}_{36}Kr + 3^{1}_{0}n \\ ^{141}_{54}e + ^{90}_{38}Sr + 2^{1}_{0}n \\ ^{144}_{55}Cs + ^{90}_{37}Rb + 2^{1}_{0}n \end{cases}$$

इस प्रकार की नाभिकीय विखण्डन की अभिक्रिया में बड़ी मात्रा में उर्जा उत्सर्जित होती है जिसे नाभिकीय विखण्डन उर्जा या परमाणु ऊर्जा भी कहते हैं। इस विखण्डन में द्रव्यमान की क्षति होती है।

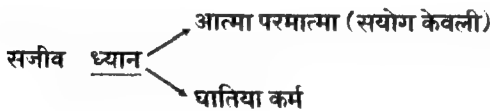
इस विखण्डन प्रक्रम में केवल एक न्यूट्रान प्रयुक्त होता है, किन्तु प्रत्येक U-235 नाभिक के विखण्डन से 2 या 3 न्यूट्रान निकलते हैं। ये पास के अन्य U-235 नाभिकों का विखण्डन करते हैं। इस प्रकार नाभिकीय विखण्डन की क्रिया एक श्रृंखला अभिक्रिया के रूप में तेजी से आगे बढ़ती जाती है और असीमित मात्रा में ऊर्जा मुक्त होती है। इस ऊर्जा की गणना आइन्स्टीन के समीकरण $E=mc^2$ के आधार पर कर सकते हैं।

जैनागम में ध्यान के चार भेद बतलाए गए हैं-

आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान।[18] इनमें आरम्भ के दो ध्यान अप्रशस्त और अन्तिम दो प्रशस्त ध्यान हैं। धर्मध्यान के चार भेद हैं- आज्ञाविचय,

अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान विचय।[19] शुक्ल ध्यान के चार वेद हैं- पृथक्त् ववितर्क एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति एवं व्युपरतक्रिया निवर्ति।[20] ये ध्यान संसार, शरीर तथा भोगों से विरक्त होने के लिए या विरक्त होने पर साधक के उस भाव को स्थिर बनाए रखते हैं। यदि साधक का चित्त धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के आरम्भ के दो ध्यानों के चिंतन में एक अन्तर्मुहूर्त तक स्थिर रहता है तो इस प्रक्रिया में परमाणु ऊर्जा के समान ही इतनी अधिक ऊर्जा निकलती है कि सर्वप्रथम सत्तर कोडाकोडी सागर की आयु वाले मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है। वह उपान्त्य समय में निद्रा, प्रचला का क्षय करके पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायों का अन्त्य समय में क्षय कर अचिन्त्य विभूतियुक्त केवल ज्ञानदर्शन स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। उस समय वह कमल की तरह निर्लिप्त और निरुपलेप होकर साक्षात त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य-पर्यायों का ज्ञाता, सर्वत्र अप्रतिहत, अनन्तदर्शनशाली, कृत्कृत्य, मेघपटलों से विमुक्त, शरत्कलीन पूर्ण चन्द्रमा के समान सौम्यदर्शन और प्रकाशमान मूर्ति केवली हो जाता है। घतिया कर्मों के भार से रहित होने से उनका औदारिक शरीर परम औदारिक, हल्का एवं प्रत्येक शरीर वाला (निगोदिया जीव से रहित) होकर पृथ्वी से पाँच हजार धनुष ऊपर चला जाता है।[21]

जैनागम का यह कथ्य विज्ञान सम्मत है। विज्ञान के अनुसार कोई भी पदार्थ हल्का होने पर ऊपर उठ जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार केवली भगवान घतियां कर्मों के भार से मुक्त होकर तथा अपने उर्ध्वगमन स्वभाव से पृथ्वी से ऊपर उठ जाते हैं। नाभिकीय विखण्डन में जैसे यूरेनियम से बेरियम और क्रिप्टान बनते हैं उसी तरह सजीव यौगिक ध्यानरूपी ऊर्जा के द्वारा विखण्डित होकर आत्मा से परमात्मा बन जाता है। वह क्षुधा, तृषादि अठारह दोषों के रहित हो जाता है औ घातिया कर्म पृथक हो जाते हैं अर्थात द्रव्यमान की क्षति होती है-



नाभिकीय संलयन[22] (न्यूक्लर फ्यूजन)- यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें दो हल्के नाभिक आपस में मिलकर एक भारी नाभिक बनाते हैं। इस प्रक्रिया में द्रव्यमान की क्षति अधिक होने से अत्यधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है, जिसे नाभिकीय संलयन ऊर्जा कहते हैं जैसे चार हाइड्रोजन नाभिकों को मिलाकर हीलियम नाभिक बनाना। नाभिकीय संलयन में मुक्त ऊर्जा (प्रति इकाई द्रव्यमान) का मान नाभिकीय विखण्डन से प्राप्त ऊर्जा के मान का लगभग आठ गुना होता है।

सजीव यौगिक तप ध्यान के द्वारा अपघटित होकर सयोग केवली (अर्हन्त) तक शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है। पूर्ण शुद्ध अवस्था/सिद्धत्व प्राप्त करने के लिए वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु चार अघातिया कर्मों को क्षय करना शेष रहता है। जब सयोग केवली साधक की आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है और वेदनीय, नाम तथा गोत्र कर्म की स्थिति भी उतनी ही रहती है तब वचन योग, मनोयोग एवं बादर काययोग को छोड़कर सूक्ष्म काययोग का अवलंबन लेकर सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यान प्रारम्भ करते हैं। यदि आयु अन्तर्मुहूर्त और वेदनीय, नाम तथा गोत्र कर्म की स्थिति अधिक हो तब विशिष्ट आत्मोपयोग वाली परम सामायिक परिणत महासंवररूप और जल्दी कर्मों का परिपाक करने वाली समुद्घात क्रिया की जाती है। इस क्रिया में शेष कर्मों का परिपाक करने के लिए चार समयों में दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण अवस्था में आत्मप्रदेशों को पहुँचा कर फिर क्रमशः चार ही समय में उनका संहरण कर चारों कर्मों की स्थिति समान कर लेता है। इस दशा में वह फिर शरीर प्रमाण हो जाता है। इस तरह सूक्ष्मकाय योग से सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यान किया जाता है। यह क्रिया नाभिकीय संलयनवत है।

इसके बाद वे समुच्छिन्न क्रिया निवर्ति ध्यान आरम्भ करते हैं। इसमें श्वासोच्छ्वास आदि समस्त काय, वचन और मन सम्बन्धी व्यापारों का निरोध किया जाता है। इस ध्यान से उत्पन्न ऊर्जा समस्त आस्रव बंध का निरोध कर पूर्णरूपेण कर्मक्षय कर देती है।[23] इस प्रकार तप ध्यान की साधना से अष्ट कर्मों को अपघटित किया जाता है। उनकी आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है। कर्मक्षय से आत्मा के अष्ट गुण- अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्त वीर्य, सूक्ष्मत्व (अशरीरत्व), अवगाहनत्व (जन्ममरण- रहितता), अगुरुलघुत्व (नीचऊँचरहितता), अव्यावाधत्व गुण प्रकट हो जाते हैं। उसका संसारवास नष्ट हो जाता है, शरीर कपूर की भांति उड़ जाता है मात्र केश और नख प्रमाण के रूप में शेष रहते हैं। सिद्धात्मा पूर्वप्रयोग से, असंग होने से, बन्धन के टूटने से और तथागति परिणाम के कारण से निर्लेप तुम्बी, एरण्ड के बीज तथा अग्नि की शिखा से समान उर्ध्वगमन कर लोकाग्र पर पहुँच जाता है।[22]

सयोग केवली की समुद्रघात क्रिया को नाभिकीय संलयन कहा जा सकता है। ध्यान की ऊर्जा से कर्म क्षय, शरीर का कपूरवत उड़ना आदि क्रियायें सजीव यौगिक के कर्म द्रव्यमान की हानि है। नाभिकीय संलयन की ऊर्जा के समान ही ध्यान की ऊर्जा (अग्नि) कर्मों को भस्म/नष्ट कर देती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तप का लक्ष्य राग-द्वेषादि विकारों का आत्मा से सदा के लिए दूर कर आत्मपरिशोधन करना है, देह दमन नहीं। तप के द्वारा आत्मा को तपा कर/विद्युत अपघटन कर विकारों को नष्ट /पृथक किया जाता है। बहिरंग तप पंचेन्द्रिय विषयजन्य सुखों के प्रति उदासीनता लाने, मन को संयमित बनाने, कष्ट सहिष्णु बनने, आलस्य और प्रमाद को दूर करने, तृष्णाक्षय एवं कषाय निग्रह में, शरीर से मोह ममत्व हटाने

में अत्यन्त उपयोगी बन कर आत्मा का परिशोधन करते हैं। अंतरंग तप तो आत्म विशुद्धि का साक्षात साधन हैं। इनके अभ्यास से साधक निर्विकल्पता को प्राप्त कर निःसंगता के अंतिम बिन्दु पर पहुँच जाता है। इस प्रकार साधक आत्मविशुद्धि के कारण सम्यग्यदर्शन ज्ञान चरित्र और तप की समवेत साधना द्वारा सयोग केवली अर्हन्त/जीवन मुक्त तथा अन्त में विदेह मुक्त/सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है। अतः तप आत्मशोधन की अपघटन क्रिया है।

तप एक ऐसी अपघटन क्रिया है जो सजीव यौगिक से आत्मा और कर्मों/विकारों को पृथक कर आत्मा को शुद्ध बनाती है और उसे सिद्धालय में विराजमान करती है।

सन्दर्भ-

1. युगबोध रसायन : एस.आर. साहू एवं जे.पी. नेमा, युगबोध प्रकाशन समता कालोनी, रायपुर कक्षा 11, पृष्ठ 16
2. वही, पृष्ठ 158-188
3. वही, पृष्ठ 268-269
4. समयसारः आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा 237-241
5. कर्मों के दो भेद हैं- भाव कर्म और द्रव्यकर्म। द्रव्यकर्म के मुख्य दो भेद हैं- घातिया एवं अघातिया। घातिया कर्म चार हैं- मोहनीय, ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी तथा अन्तराय, अघातिया के भी चार भेद हैं- वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। विस्तृत अध्ययन के लिए देखें जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष भाग-2 पृष्ठ 24-28 श्री जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली
6. सजीव के आगे लगा चिन्ह '↓' आत्मा के संसार में रहने का प्रतीक है।
7. तत्वार्थसूत्र : उमास्वामी, 9/3
8. वही, 9/2
9. आत्मा के आगे लगा चिन्ह '↑' उनकी शुद्ध अवस्था एवं उर्ध्वगमन स्वभाव का द्योतक है।
10. अनशनावमौदर्यवृत्ति परिसंख्यान रस परित्याग विविक्तशय्यासन कायक्लेशा बाह्यं तपः। तत्वार्थसूत्रः उमास्वामी, 9/19
11. प्रायश्चित विनय वैयावृत्त्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग ध्यानान्युत्तरम वही, 9/20
12. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष : श्री जिनेन्द्रवर्णी, भाग-3, पृष्ठ 548
13. जैन विधा पत्राचार पाठ्यक्रमः डॉ. नेमीचन्द जैन इन्दौर, इकाई 7, पृष्ठ 28
14. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष : श्री जिनेन्द्र वर्णी, भाग-3, पृष्ठ-623
15. वही, पृष्ठ-621

16. जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम : डॉ. नेमीचन्द जैन इन्दौर, इकाई 7, पृष्ठ 28
17. युगबोध रसायन : एस.आर. साहू एवं कैलाश काबरा, युगबोध प्रकाशन, समता कालोनी, रायपुर, कक्षा 12, पृष्ठ-256-258
18. आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि। तत्वार्थसूत्रः उमास्वामी, 9/28
19. आज्ञापायविपाक संस्थान विचयाय धर्म्यम्। वही, 9/36
20. पृथकत्वैकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रिया प्रतिव्युपरत क्रिया निवर्तीनि। वही, 9/39
21. अ. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश : श्री जिनेन्द्रवर्णी, भाग-2, पृष्ठ 158-169
ब. सवार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद, 9/44 की टीका
स. राजवार्तिक भाग-2 : अकलंकदेव, 9/44 की टीका
22. तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्। पूर्व प्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथा-गतिपरिणामाच्च। तत्वार्थसूत्र, 10/5-6



जैन जैव सिद्धांतों द्वारा पृथ्वी की रक्षा



-सुरेश जैन (आईएएस)

- सन् 1972 में स्टॉकहोम में तथा 1992 में रीयो दी जैनेरो में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के बावजूद भी हमारी पृथ्वी का वातावरण प्रदूषित हुआ है और पर्यावरण सन्तुलन गड़बड़ा गया है। इस क्षेत्र में विकास के लिए आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आधार पर पर्यावरण संबंधित सिद्धांत का प्रतिपादन आवश्यक है। चूंकि पर्यावरण संरक्षण में धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का अत्यधिक योगदान है, अतः प्राचीन मान्यताओं को ऊर्जा देकर पुनर्जीवित करके इस क्षेत्र में पर्याप्त क्रांति लाई जा सकती है।

- जैनधर्म ने पर्यावरण को काफी महत्व दिया है। प्रथम जैन तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने प्राचीन भारत में पर्यावरण संरक्षण और जैविक संतुलन बनाए रखने के लिए सशक्त सिद्धांतों की स्थापना की थी, जो आज भी विद्यमान है। हमें जैन परम्पराओं में निहित मूलभूत पर्यावरण प्रतिमानों को प्रचलित करना चाहिए। जैनधर्म हमें इस पृथ्वी के छोटे से छोटे प्राणी, वनस्पति और यहाँ तक की सूक्ष्म जीवाणुओं (माइक्रोब्स) की रक्षा और सम्मान करने की प्रेरणा देता है। जो कि स्थिर पर्यावरण संरक्षण के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

- जैनधर्म के अनुसार जैन समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह उपदेश दिया गया है कि वह सम्पूर्ण मानव जाति एवं सृष्टि के समस्त जीवों की दीर्घायु की मंगल कामना एक धार्मिक अनुष्ठान की तरह प्रतिदिन करे। वह परमपिता परमात्मा की साक्षी में यह भावना भाये कि वर्षा समय पर हो और पर्याप्त हो, बाढ़ या सूखा न हो, कोई महामारी न फैले एवं समस्त प्रशासनिक अधिकारीगण अपने कर्त्तव्यों का पालन सच्चाई व ईमानदारी से करें।

- प्रत्येक उत्तरदायी जैन परिवार निम्नांकित निषेधों का कठोरतापूर्वक एवं नियमित पालन करें यह बात भी जैन धर्माचार्यों द्वारा कही है-

1. कोई भी अपने गन्दे वस्त्र किसी भी प्रवाहित नदी में न धोये ताकि उसमें रहने वाले सूक्ष्म जीवों की सुरक्षा हो सके।

2. कोई भी बगैर छना/अशुद्ध जल न पिये ताकि शरीर रोगमुक्त रह सके और आसपास का वातावरण दूषित होने से बच जाए। संसार के वैज्ञानिक मानते हैं जैनधर्म में जो पानी छानने

की प्रथा प्रचलित है वह उनके स्वस्थ शरीर के लिए उपयोगी है। यह प्रथा श्रेष्ठ स्वास्थ्य एवं आधुनिक सभ्यता की प्रतीक है।

3. किसी भी स्रोत से पानी के पश्चात् शेष बचे बगैर छने पानी (जीवानी) को उसके वास्तविक स्रोत तक पहुँचा दिया जाए ताकि सूक्ष्म जीवाणु अपने प्राकृतिक जैविक संतुलन को बनाए रखकर शान्तिपूर्वक जीवित रह सकें।

4. कोई भी जल की एक भी बूंद व्यर्थ नष्ट न करें, पेड़-पौधों से व्यर्थ ही फूल या पत्ते न तोड़ें, विद्युत या किसी भी ऊर्जा की एक यूनिट भी व्यर्थ व्यय न होने दें।

- इस तरह जैनधर्म ने पर्यावरण के मूल घटक, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के दुरुपयोग, अत्यधिक उपयोग या नष्ट करने से संबंधित सामाजिक एवं धार्मिक निषेध स्थापित किये हैं, जिससे प्रकृति के इन उपहारों का आदर हो सके और पर्यावरण भी प्रदूषित न हो।

- दिगम्बर जैन साधु अपने दैनिक जीवन में इको-जैनिज्म के सिद्धान्तों का समावेश एवं अभिव्यक्तिकरण करते हैं। वे अपने साथ सिर्फ काष्ठ निर्मित 'कमण्डलु' और मोरपंख से बनी 'पिच्छी' रखते हैं। ये दोनों उपकरण पर्यावरण संरक्षण एवं आत्मोन्नति के प्रतीक हैं। ये ऐसी सामग्री से निर्मित हैं, जो स्वयंमेव जीवों के द्वारा छोड़ी गई है। साधुजन कमण्डलु के जल का दैनिक आवश्यकता हेतु बड़ी मितव्ययता से उपयोग करते हैं। दैनिक क्रियाओं के दौरान पिच्छी के द्वारा वे सूक्ष्मजीवों की प्राणरक्षा का प्रयास करते हैं। इस तरह मितव्ययता और प्राणी रक्षा का संदेश उनके जीवन से अनायास ही प्रचारित होता रहता है।

- सर्वाधिक आदरणीय दिगम्बर जैन सन्त आचार्य श्री विद्यासगरजी अपनी सशक्त ज्ञानवार्ता और श्रेष्ठ कार्यों द्वारा हमारी दिमागी उलझनों को सुलझा देते हैं। हमारे शारीरिक तनावों और विकारों को संयमित करके हमारी सच्ची शक्ति को जाग्रत कर देते हैं। उन्होंने बहुमुखी उपलब्धि और सफलता के लिए प्रत्येक समूह और सामाजिक स्तर पर व्यवहार एवं कार्यक्षमता को उन्नत और शुद्धतर बनाने हेतु नियम बनाए हैं। उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रभावी और बहुमुखी नेतृत्व के लिए तकनीक स्थापित की है। यहाँ तक कि उनके विशाल पारदर्शी व्यक्तित्व में हम अपने व्यक्तित्व की स्वच्छ एवं स्पष्ट तस्वीर देख सकते हैं।

- मानिये, आचार्य श्री विद्यासागर इस धरती पर शान्ति के वृक्ष हैं। वे पर्यावरण के श्रेष्ठ संरक्षक हैं। वे हमेशा शिक्षा देते हैं कि हमें स्वच्छ पर्यावरण में रहना चाहिए, छना हुआ शुद्ध व स्वास्थ्यवर्धक जल ग्रहण करना चाहिए, प्रदूषण मुक्त वायु का सेवन करना चाहिए, प्राकृतिक, स्वच्छ, शक्तिवर्धक व सात्विक भोजन लेना चाहिए। संशाधित आहार, तुरता आहार या बासी भोजन, बिस्कुट, ब्रेड, डिब्बा बंद एवं संरक्षित भोज्य

सामग्री का प्रयोग नहीं करने की सलाह भी वे देते हैं। वे विविध रसायनों से संरक्षित करके दूर-दूर से आने वाले फलों की अपेक्षा स्थानीय ताजे एवं सस्ते फल व सब्जियों को ग्रहण करने के पक्षधर हैं। यदि हम इन शिक्षाओं व निर्देशों का नियमपूर्वक अनुसरण करें तो चिकित्सकों एवं औषधियों का प्रयोग सीमित हो सकता है। हम स्वयं अपेक्षाकृत ज्यादा स्वस्थ रहकर पर्यावरण को भी स्वस्थ बना सकते हैं।

- आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से ज्ञात हुआ है कि डॉक्टरों के द्वारा मात्र 10% व्यक्तियों का भला हो सकता है, जबकि 90% व्यक्तियों का जीवन एवं स्वास्थ्य उनकी खानपान की आदतों, धूमपान, मादक पेय द्रव्य और व्यायाम पर निर्भर करता है जिस पर औषधि एवं चिकित्सकों का कोई नियंत्रण नहीं होता।

- हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि जब अमेरिका के चिकित्सकों का दाखिला होताहै तब तक वे 30% शल्य चिकित्सा यानी 45 लाख आपरेशन ऐसे कर चुके होते हैं जिनका किया जाना आवश्यक नहीं था। ये आपरेशन 'गिनीपिग्स' पर किए जाते हैं जिनका उद्देश्य प्रायः शल्य चिकित्सकों को दक्ष करने का होता है। यद्यपि इस प्रकार के भारतीय आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं तथापि हम जानते हैं कि वे भी पर्यावरण के लिए सुखद नहीं होंगे।

- सन् 1977 में जॉन और सोनिया मैकिनले ने एक पत्र प्रकाशित किया जिसमें यह चौंकाने वाला दावा था कि अमेरिका, कनाडा, इंग्लैंड और इजराइल में जब-जब चिकित्सकों ने हड़ताल की तब-तब वहां मृत्यु दर में गिरावट आई। कुछ चिकित्सा संबंधी खोजें बताती हैं कि भारत में चिकित्सालयीन मरीजों में 10 में से एक मरीज औषधियों के दुष्प्रभाव से पीड़ित होता है।

- लोगों को बगैर तनाव के प्रसन्न रहने एवं समुदाय के बीच प्रकृति में खुशहाल रहने के लिए जैन संस्कृति एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। हमें हमारे सांस्कृतिक आचार-विचार का अनुसरण एवं अभ्यास प्रकृति के विकास में करना चाहिए। हमें अपने विकास का ऐसा ढांचा तैयार करना चाहिए जो कि पर्यावरण एवं सांस्कृतिक आधार को दृढ़ता प्रदान करे। आज न केवल हमारी संस्कृति या राष्ट्र वरन् हमारा समूचा ग्रह (पृथ्वी) भी ऐसे खतरे में है जैसा पहले कभी नहीं था। मानव जाति पर्यावरण को इतने व्यापक पैमाने पर नष्ट कर रही है कि स्वयं प्रकृति भी अकेले इस ह्रास की क्षतिपूर्ति नहीं कर सकती। इससे पहले कि बहुत देर हो जावे हमें पर्यावरण की इस सबसे बड़ी चुनौती को जिससे कि हमारा और हमारी पृथ्वी का अस्तित्व जुड़ा है स्वीकारना होगा। हमें स्वयं एक श्रेष्ठ पर्यावरण - संरक्षक बनना होगा।



पर्यावरण और तीर्थंकर चिन्ह



-सुरेश जैन (आईएएस)

पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी विज्ञान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

'इकोलॉजी' (परिस्थितकी) शब्द दो ग्रीक शब्दों से मिल कर बना है। 'इकीओस' और 'लॉजी'। 'इकीओस' का अर्थ है घर और 'लॉजी' का अर्थ है अध्ययन। अन्य शब्दों में इकॉलॉजी का अर्थ है - घर-का-अध्ययन। अपने घर की जानकारी ही पर्यावरण की जानकारी है। पर्यावरण, जिसमें हम जीते हैं, की सुरक्षा अपने घर की सुरक्षा है।

वातावरण का प्रत्येक भाग, जो हमारे जीवन पर प्रभाव डालता है, इकॉलोजिकल फैक्टर, या पारिस्थितिकी-घटक कहलाता है। ये चारों महत्वपूर्ण हैं- (1) क्लाइमैटिक फैक्टर्स (जलवायु-गत घटक), (2) एडॉफिक फैक्टर्स (पार्थिव घटक), (3) बायॉटिक फैक्टर्स (जैव घटक), (4) ज्यॉग्राफिकल फैक्टर्स (भौगोलिक घटक)।

'क्लाइमेट' ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ है कि 'सूर्य की किरणें किस कोण से पृथ्वी पर पड़ रही हैं'। इसमें प्रकाश, ताप, जल वर्षा, आर्द्रता और वायु भी शामिल हैं।

एडॉफिक यानी मिट्टी से जीवन पर पड़ने वाला प्रभाव, जैसे- पौधे के जीवन के लिए मिट्टी जरूरी है। वैसे भी हमारे जीवन के लिए मिट्टी जरूरी है। शरीर मिट्टी से ही बना है।

बायॉटिक फैक्टर्स- हमारे चारों ओर जीने वाले अन्य जीवाणु, छोटे-छोटे कीड़े, तितलियाँ, भौंरे, मधुमक्खियाँ, चींटियाँ, पशु-पक्षी, हमारे साथीजन सभी का प्रभाव हमारे घर पर पड़ता है।

ज्यॉग्राफिकल फैक्टर्स- हमने समूची पृथ्वी, जो एक घर है, के किस कोने में रहने की जगह बनाई है, उसका अक्षांश, देशांश तथा उसकी समुद्र से ऊँचाई और दूरी क्या है? ये सब तत्व हमारे जीवन पर प्रभाव डालते हैं। इनका असंतुलन ही पर्यावरण का प्रदूषण है।

हजारों वर्ष से पर्यावरण संतुलित था, पर अब औद्योगिक क्रान्ति ने इस पर्यावरण को छिन्न-भिन्न करना शुरू कर दिया है। फलस्वरूप हमारे घर का वातावरण बिगड़ रहा है।

वातावरण को अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित करना, उसे नया रूप देना, उसे सजाना-संवारना अच्छी बात है, किन्तु प्रकृति के मूलभूत नियमों का उल्लंघन करके

शीघ्र उन्नति के लालच में जीवन के अनिवार्य तत्वों (वायु और जल) को जिस तेजी से बिगाड़ा जा रहा है, वह सुखद नहीं है।

प्रदूषण हमारी भूमि, वायु और जल में भौतिक, रासायनिक और जैव वैज्ञानिक लक्षणों में एक अवांछित परिवर्तन है, जो हमारे जीवन को खतरे में डालता है।

प्रदूषण कई तरह का है जो दिनोंदिन फैल रहा है, बढ़ता जा रहा है। प्रदूषण की प्रमुख श्रेणियाँ हैं :

(1) जल-प्रदूषण (2) वायु-प्रदूषण (3) स्थल-प्रदूषण (4) ध्वनि-प्रदूषण (5) रेडियो-धर्मी प्रदूषण (6) वनों के नष्ट होने से हुआ प्रदूषण (7) सौर प्रदूषण (8) ओजोन की छतरी में छेद से संभावित प्रदूषण तथा (9) औद्योगिक/एटमी (आण्विक) कचरे से होने वाला प्रदूषण।

प्रदूषण के प्रत्येक स्रोत को गहराई से समझें, गम्भीरता से समझें। अन्यथा हमारे सामने आने वाली मुश्किलें खतरनाक होंगी। अपनी गलती को सुधारने का मौका भी हमें नहीं मिलेगा। हम किसी अंधेरी खाई में गिरने को मजबूर होंगे। आज हम जिस तरह जी रहे हैं, उसे जीना नहीं कहा जा सकता। हाँ, उसे अपने हाथों अपना कफन बुनना जरूर कहा जा सकता है।

देखिये, भय मरने का नहीं है। भय सिर्फ इस बात का है कि अगर हम इस बार बेहतर जीवन जीने से चूक गए, तो फिर चाह कर भी इसे आसानी से दुबारा नहीं पा सकेंगे।

सड़ी-गली चीजें, ढेर सारा कचरा, साबुन-मिश्रित जल, और ऐसी ही तमाम हमारे रोजमर्रा की जिन्दगी से होने वाली गन्दगी का प्रभाव, न सही दूर पर, हमारे आस-पास जरूर पड़ता है।

एक बात ख्याल में रखिये कि पर्यावरण को प्रदूषित करने में सबसे ज्यादा जिम्मेदार यदि कोई है तो वह है मानव-जाति। हम और आप, हमारी रोज-रोज बढ़ती वासनाएँ, और हमारा अहंकार। साबुन से जल किस तरह प्रदूषित हो रहा है, शायद इसे आप नहीं जानते। हममें अपने कपड़े साफ रखने की इच्छा जितनी जागी है, उतनी कपड़े मैले न करने की कोशिश घटी है। एक वक्त था लोग साबुन के बिना भी साफ-सुथरे रहते थे। अब साबुन है, लेकिन साफ-सुथरापन नहीं है। पुराने साबुन का हम उपयोग नहीं कर रहे हैं, हमें चाहिए नया साबुन जिसमें से खूब झाग निकले, फिर भले ही वह झाग कभी खत्म न हो, और हमें मुश्किल में डाले। नया साबुन तेलों से नहीं बनता। वह रसायनों से बनता है। तेलों से बने साबुन का झाग मैल के साथ खत्म हो जाता है, या फिर मिट्टी में जाकर खत्म हो जाता है लेकिन रसायनों से बना झाग जमीन कभी सोख नहीं पाती। वह जमीन को जहरीला बनाता है।

डिटर्जेण्ट न तो कभी घुलता है और न कभी नष्ट ही होता है। परिणाम यह होता है कि हैण्ड पम्पों के पानी में कई बार झाग आने लगता है। वह आपके द्वारा भेजा गया साबुन का ही झाग है। यूरोप और अफ्रीका के आसपास के टापुओं में रहने वाले लोगों ने जब देखा कि उनके द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले साबुन का झाग उनके कुंओं के पानी में आ रहा है, तब उन्होंने कसम खायी कि वे नये साबुन का उपयोग नहीं करेंगे। कई साबुनों में चर्बी मिलायी जा रही है, आप उसी से हाथ धोकर खाना खाने बैठ जाते हैं। सफाई के नाम पर यह गन्दगी है। खुद को सम्हालिये। बेसन से हाथ धो लीजिये। उबटन लगाकर नहा लीजिये। यह प्राकृतिक है।

पर्यावरण-संरक्षण में भारतीय संस्कृति, विशेषतः जैन संस्कृति, का महत्वपूर्ण योगदान है। चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाओं पर अंकित चिन्ह प्रकृति एवं पर्यावरण-संरक्षण के अर्थ एवं संदेश के संवाहक हैं। ये चिन्ह संबंधित तीर्थंकर के जीवनवृत्त एवं उनकी समकालीन प्रवृत्ति पर आधारित हैं। जैन तीर्थंकरों ने प्राकृतिक सम्पदा एवं अन्य प्राणियों के संरक्षण में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। तीर्थंकर यह जानते थे कि मानव, प्रकृति पर निर्भर है, अतएव उन्होंने प्रकृति, वन्य पशु एवं वनस्पति जगत के प्रतिनिधि के रूप में महत्वपूर्ण विभिन्न प्रतीक चिन्ह स्वीकार किए। 24 तीर्थंकरों के 24 चिन्हों में से प्राणी-जगत से 13 चिन्ह हैं। प्राणी जगत के बैल, हाथी, घोड़ा, बंदर, हिरण एवं बकरा इत्यादि मनुष्य जगत के लिए सदैव उपयोगी एवं सहयोगी रहे हैं। चकवा पक्षी-समूह का प्रतिनिधि है। जल में रहने वाले मगर, मछली, कछुवा एवं शंख का जल-शुद्धि में महत्वपूर्ण योगदान है। ये जीव जगत के लिए वरदान-स्वरूप रहे हैं।

स्वस्तिक एवं कलश मांगलिक हैं, अतः क्षेमंकर हैं। बज्रदण्ड न्याय, वीरता एवं शौर्य का प्रतीक है। प्रकृति का महत्वपूर्ण घटक चन्द्रमा शीतलता एवं प्रसन्नतादायक है। कल्पवृक्ष वनस्पति जगत का प्रतीक है। लाल एवं नीलकमल पुष्प जगत के सुमधुर एवं सुरभित प्रतिनिधि हैं। पुष्प अपनी प्राकृतिक सुन्दरता एवं सुकुमारता से शान्ति और प्रेम का संदेश प्रसारित करते रहे हैं।

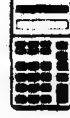
पर्यावरण संरक्षण के प्रतीक तीर्थंकर चिन्ह भारतीय संस्कृति में पूरी तरह से रच-पच कर भारतीय जीवन पद्धति के अंग बन गए हैं। भारतवर्ष सघन वन तथा वन्य प्राणियों की प्रचुरता के लिए विख्यात रहा है। तीर्थंकरों ने इस चिन्हों के माध्यम से प्रकृति से अपना जीवन्त सम्पर्क रखा है। आज आवश्यकता है कि इस जीवन्त इतिहास को विश्व-के-समक्ष पुनः उद्घाटित किया जाए।

तीर्थंकर चिन्ह-समूह अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के पर्यावरण की अनुभूति का प्रवाही स्रोत है। चिन्हों की यह चौबीसों प्रकृति वनस्पति, पशु एवं पक्षी जगत की महत्वपूर्ण अभय वाटिका है। इस अभय वाटिका से शान्ति का शाश्वत निर्झर प्रवाहित हो रहा है।

मनुष्य की सामान्य इच्छाओं की पूर्ति प्रकृति द्वारा बिना किसी कठिनाई से पूरी की जा सकती है, किन्तु जब इच्छा बहुगुणित होकर कलुषित हो जाती है, तब उसे पूरी करना प्रकृति के लिए कठिन हो जाता है। मनुष्य की यह बहुगुणित इच्छा ही प्राकृतिक संकटों की जननी है। इसी कलुषित एवं बहुगुणित इच्छा की तुष्टि के परिणामस्वरूप पर्यावरण तहस-नहस हो जाता है। वायु, जल, ध्वनि एवं दृश्य प्रदूषित हो जाते हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति की इच्छा बहुगुणित और कलुषित होती जाती है, उसकी संग्रह-की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। उसका मन, चित्त, धवलता के स्थान पर कालिमा ग्रहण कर लेता है। आइये, हम कालिमा के पक्ष को छोड़कर धवलिमा के पक्ष पर अग्रसर हों और अपने पर्यावरण का संरक्षण एवं संवर्द्धन करें।



जैन गणित : एक पूर्वेक्षण



-डॉ. अनुपम जैन

पं. पूज्य मुनिश्री क्षमासागरजी की प्रेरणा से दिगम्बर जैन समाज, गुना द्वारा डॉ. अभय प्रकाश जैन (ग्वालियर) के संयोजकत्व में ''जैन विज्ञान विचार संगोष्ठी'' का आयोजन जैन साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से शुभ संकेत है। गत 10-15 दशकों के गहन अध्ययन एवं शोध से विपुल परिमाण में जैन साहित्य प्रकाश में आया है। उसकी विशालता एवं वैविध्य ने भारतीय एवं विदेशी मूल्यांकन कर्ताओं को इतना प्रभावित किया है कि आज जैन साहित्य से समीचीन अनुशीलन के बिना भारतीय साहित्य का मूल्यांकन, भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का सृजन बेमानी है।

इस महत्वपूर्ण स्थिति के बावजूद जैन साहित्य के अनेक पक्ष आज भी उपेक्षित हैं। जैनाचार्यों ने जहाँ दर्शन, साहित्य, व्याकरण को समृद्ध किया है वहीं लोकोपकार की भावना से आयुर्वेद एवं आहार विज्ञान, चंचल चित्त को स्थिर कर उपयोग नियंत्रित करने हेतु योग एवं संगीत प्रकृति की संरचना के सूक्ष्म विश्लेषण हेतु भौतिकी एवं जैविकी, ब्रह्मांड के रहस्यों एवं उसके स्वरूप के विवेचन हेतु सृष्टि विज्ञान, त्रिलोक विज्ञान (Cosmology, Cosmography) धार्मिक अनुष्ठानों की पूर्ति, दीक्षादि हेतु शुभ मुहूर्तों की गणना हेतु ज्योतिष विषयक ग्रंथों का सृजन किया। जहाँ-जहाँ गणना हो, तुलना हो, वृद्धि या न्यूनता हो, वहाँ-वहाँ गणित का समावेश हो ही जाता है। यही कारण है कि गणित का विज्ञान की सभी विधाओं में शीर्ष स्थल पर है एवं लगभग सभी में न्यूनाधिक रूप में समाविष्ट है। जैनाचार्यों ने भी लौकिक एवं लोकोत्तर गणित के स्वतंत्र ग्रन्थों का सृजन किया। मात्र इतना ही नहीं करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग वर्ग के लगभग सभी महत्वपूर्ण ग्रंथों में गणित समाविष्ट है इसकी प्रकृति इस रूप में है कि इन ग्रंथों का अध्ययन गणित के बिना किया ही नहीं जा सकता।

मैं प्रस्तुत आलेख में कतिपय शीर्षकों के अन्तर्गत अपना विवेचन प्रस्तुत कर रहा हूँ-

1. जैन साहित्य एवं गणित
2. जैन गणित के अध्ययन की आवश्यकता एवं उपादेयता
3. जैन गणित के क्षेत्र में अब तक सम्पन्न शोध कार्य
4. जैन गणितीय साहित्य की उपलब्धता / अनुपलब्धता
5. जैनाचार्यों की विशिष्ट गणितीय उपलब्धियां
6. शोध की भावी दिशाएँ।

उक्त शीर्षकों के अन्तर्गत क्रमशः प्रथम शीर्षक में जैन गणित के पौराणिक सन्दर्भों, जैन साहित्य में गणित की विशिष्ट स्थिति एवं प्रमुख विद्वानों के जैन साहित्य के अध्ययन हेतु गणित की अपरिहार्यता पर विचार प्रस्तुत किए जाएंगे।

द्वितीय बिन्दु के अन्तर्गत जैन गणित के औचित्य एवं इसकी स्वतंत्र शीर्षक के अन्तर्गत अध्ययन किए जाने वाले लाभों की चर्चा की जाएगी।

तृतीय बिन्दु में एक शताब्दी से भी कम समय में अत्यन्त तीव्र गति से विकसित हुए इस विषय पर अब तक सम्पन्न शोध कार्य का सामान्य सर्वेक्षण एवं महत्वपूर्ण लेखों/पुस्तकों का उल्लेख होगा।

चतुर्थ बिन्दु के अन्तर्गत जैन गणित के मूल स्रोतों आगम ग्रंथों, स्वतंत्र ग्रंथों जिनमें गणित विशिष्ट रूप में विपुल परिमाण में है, का विवरण होगा, इस श्रृंखला में हम उपलब्ध एवं अनुपलब्ध ग्रंथों का विवेचन प्रस्तुत करेंगे जिससे विद्वत समुदाय इनकी जानकारी प्राप्त कर जैन गणितीय साहित्य को समृद्ध कर सके।

जब यह विषय इतना महत्वपूर्ण है एवं जैन आचार्यों ने इतना श्रम किया है तो निश्चय ही कई महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ भी हुई होंगी। उत्तर है, हाँ, जैनाचार्यों की विशिष्ट गणितीय उपलब्धियों को इस पंचम बिन्दु में संयोजित किया है।

षष्ठम् बिन्दु में एक कार्ययोजना प्रस्तुत की है जिस पर कार्य कर अब तक सम्पादित कार्य को व्यवस्थित किया जा सकता है। Development of Mathematical thoughts in Jainism शीर्षक ग्रंथ के सृजन के साथ ही इस शताब्दी में सम्पन्न कार्यों की विश्व गणित इतिहास के साथ तुलनात्मक रूप से रखकर उसे समीचीन महत्व के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। पूर्ण तथ्यों के साथ प्रामाणिक संदर्भों सहित, पूर्वाग्रह मुक्त इतिहास सम्मत दृष्टिकोण रखकर समकालीन गणित के साथ तुलनात्मक रूप में जब तक हम गणितीय उपलब्धियों को नहीं रखेंगे तब तक पुस्तिकाओं, अभिनन्दन ग्रंथों, स्मृति ग्रंथों, स्मारिकाओं में अथवा न्यूज पेपर अथवा स्वयंभू रूप से छपी-छपाई सामग्री का कोई मूल्य नहीं। महत्व तब बनेगा जब प्रतिष्ठित Research Journals में छपे एवं मान्य शोध केन्द्रों या वि.वि. में जाए। इतिहास में स्थान बनाने एवं जिनवाणी की सेवा करना यदि हमारा भाव है तो इस कार्ययोजना पर गंभीरता से विचार करने का मेरा आग्रह है। एक बार पुनः गुना जैन समाज को इस संगोष्ठी के आयोजन हेतु बधाई एवं पूज्य मुनिश्री के चरणों में शतशः नमन।



जैन आहार और मर्यादाएँ



-डॉ. अशोक जैन

जैन आहार-विज्ञान में खान-पान की काफी गहरी छान-बीन हुई है। जैन आहार-विज्ञानियों ने कौन-सी वस्तु खाने योग्य है और कौन-सी खाने योग्य नहीं है इसे तय करने के लिए अहिंसा और आत्मोत्थान इन दो कसौटियों को ध्यान में रखा है। ऐसा आहार ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है जो अहिंसक हो और हमारे आत्म-विकास में सहायक हो।

जीवाणुओं (माइक्रोब्स) की ऐसी प्रकृति है कि वे एक निश्चित तापमान (आप्टिमम टेम्परेचर) पर तेजी से बढ़ते हैं और अगणित हो जाते हैं। इसलिए किस खाद्य सामग्री का कब तक उपयोग करना यह मर्यादा निर्धारित करना नितान्त आवश्यक होता है। मर्या-दा संस्कृत का शब्द है, जिसका अर्थ है सीमारेखा, एक ऐसा निशान जिसका उल्लंघन अहितकर होने के कारण अस्वीकृत है।

जैन आहार की जो शास्त्रोक्त मर्यादाएँ हैं वे इस प्रकार हैं-

- आटा आदि चून की मर्यादाएँ वर्षाकाल में 3 दिन, ग्रीष्मकाल में 5 दिन और शरद ऋतु में 7 दिन है। यह प्राकृतिक प्रशीत्तन (नेचुरल रेफ्रीजरेशन) के आधार पर निर्धारित की गई अत्यन्त तर्कसंगत मर्यादा है। जिस भोजन सामग्री में पानी न डाला गया हो जैसे मगद आदि उसकी मर्यादा भी आटे की मर्यादा के तुल्य मानी गई है। पिसे हुए मसालों की मर्यादा भी इतनी ही है।
- खिचड़ी, कढ़ी, तरकारी आदि की मर्यादा मात्र 6 घंटे है। पूआ, शीरा (हलुआ), रोटी आदि जिनमें पानी का अंश अपेक्षाकृत अधिक है उनकी मर्यादा 12 घंटे की है। पुड़ी, पपड़ी, खाजा, लड्डू, घेवर आदि कम जलीय अंश वाले खाद्य पदार्थों की मर्यादा 24 घंटे की है।यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि पक्की रसोई में जलीय भाग कम होने और स्निग्धता ज्यादा होने से सुरक्षा कवच बनता है, जिससे जीवाणुओं को शीघ्र ही पनपने का मौका नहीं मिलता है। कच्ची रसोई में यह रक्षक आवरण नहीं बन पाता या नष्ट हो जाता है और जलयुक्त होने से वायु में उपस्थित जीवाणुओं के स्पोर्स (बीजाणु) उपयुक्त वातावरण पाकर शीघ्र पनपने लगते हैं।

- घी, गुड़, तैल आदि की मर्यादा स्वाद न बिगड़ने तक मानी गई है। घर में शुद्ध जल से बनाए हुए बूरे की मर्यादा वर्षाकाल में 7 दिन, गर्मी में 15 दिन और ठंड में एक माह है।

- दूध, दुहकर, छानकर 48 मिनिट से पूर्व गर्म कर लेने पर उसकी मर्यादा 24 घंटे की है यदि दूध दुहने के उपरान्त 48 मिनिट तक गर्म न किया जाए तो सघन जीवराशि उत्पन्न होने लगती है, फिर ऐसा दूध खाने योग्य नहीं रहता। गर्म दूध से जमाये गए दही की मर्यादा 24 घंटे की है। ऐसे दही में बिलोते वक्त यदि गर्म पानी डालकर बिलोया जाए तो छाछ की मर्यादा दिन-भर यानी 12 घंटे की है। जिस दही में बूरा, मिश्री, खारक या मुनक्का आदि मीठी वस्तुएँ डाली गई हों उसकी मर्यादा 48 मिनिट की होती है। इसके उपरान्त ऐसे मिश्रित दही में एल्कोहलिक फर्मेशन होने के कारण वह खाने योग्य नहीं रहता। गुड़ के साथ दही या छाछ मिलाकर खाना भी सर्वथा अभक्ष्य है।



आहार विज्ञान और जल

-डॉ. आर.के. जैन



पानी से हम सभी परिचित हैं। संसार में यह सर्वसुलभ तथा आवश्यक साधारण पदार्थ होने के साथ-साथ असाधारण भी है। इसके अभाव में जीवन का अभाव संभव है। पृथ्वी पर उपलब्ध कुल जलसम्पदा 1.37×10^{39} लीटर है। जिसमें समुद्र में 98.9% ध्रुवीय तथा पहाड़ी स्रोतों बर्फ के रूप में 1.007% वाष्प अवस्था में वायुमंडल में उपस्थित 0.001% भूजलीय स्रोतों में 0.02% तथा ताजा पानी सिर्फ 0.002% जो कि मानव के उपयोग के लिए उपलब्ध है।

पानी की उच्च घोलक शक्ति होने के कारण इसका एकदम शुद्ध दशा में मिलना कठिन है। अप्रदूषित स्वच्छ भौगोलिक स्थानों पर भी बर्फ के जल में कार्बन-डाई-आक्साइड, नाइट्रोजन एवं आक्सीजन घुलित अवस्था में रहती है तथा अल्प मात्रा में वातावरण की धूल आदि अघुलित अवस्था में उपस्थित रहती है।

इतना ही नहीं जल में प्रदूषण के कारण बहुत-सी जान लेवा बीमारियों के कीटाणु भी विद्यमान रहते हैं। बिना छना अशुद्ध/अस्वच्छ जल पीने से बहुत से रोगों की संभावना स्वाभाविक रूप से बढ़ जाती है। राजस्थान के कुछ क्षेत्रों में भयंकर रोग जैसे जलोद, नारू आदि अस्वच्छ जल के पीने से होते हैं।

इस तरह जल को लेकर हमें सतर्क रहना चाहिए। जैन धर्म में हमेशा अहिंसा को दृष्टि में रखकर (जो स्वतः एक विज्ञान है) पानी छानकर पीने की शिक्षा दी जाती रही है। पानी छानकर पीना आज भी जैनों की पहचान मानी जाती है। आज जैन ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जीवन के लिए बेहद जरूरी तत्व पानी स्वच्छ और शुद्ध हो। यदि पानी भारी हो तो उसे उबालकर हल्का बनाकर उपयोग में लेना वैज्ञानिक सूझबूझ होगी। जैनमुनि आज भी उबला हुआ जल ही उपयोग में लेते हैं, जो स्वास्थ्यप्रद होने के साथ-साथ अहिंसक भी है। उसमें बहुत समय तक जीवाणु उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती।

- पानी छानने को लेकर जैनों में जिस विधि या पद्धति को मान्यता मिली है, वह तर्कसंगत और वैज्ञानिक है। प्रासुक जल से जैनों का आशय जीवाणु-रहित जल से है। उबला हुआ जल प्रासुक माना गया है। छने हुए पानी को 48 मिनिट तक पीने योग्य माना गया है और उबले हुए जल का उपयोग 24 घंटे तक पीने के लिए किया जा सकता है।

पानी को सूती वस्त्र से छानना चाहिए। जिस छन्ने से पानी छाना जाए वह 18"x27"= 496 वर्ग इंच =3.75 वर्ग फुट का हो। यह छन्ना दोहरा हो, पुराना या पहना हुआ

न हो। साफ-सुथरा हो। यथाशक्ति हाथ कते सूत के छन्ने का उपयोग करना चाहिए। ऐसे सूती छन्ने में एक और छन्ना बन जाने की क्षमता होती है।

जलप्रदायों में आज जिस तरह पानी छनकर आता है उसमें अपरम्पार जीव हिंसा होती है। कीटाणुनाशक दवाओं का प्रयोग किया जाता है। इस तरह जल छानते वक्त जीवों को बचाने का भाव नहीं होता बल्कि जीवों की हिंसा करने का होता है। पानी छानने की जैन प्रक्रिया का मूल उद्देश्य जीव-रक्षा का है। सह-अस्तित्व की भावना बनाए रखने का है। जो कि आज पर्यावरण की सुरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

यह सुनकर हैरान नहीं होना चाहिए कि केरल के लोग सबसे ज्यादा समय तक जीते हैं। हाल ही में छानबीन से पता लगा है कि साफ और सुरक्षित पानी ही केरल के निवासियों की लंबी उम्र का राज है। वाशिंगटन के वर्ल्डवॉच संस्थान ने बताया है कि साफ पानी पीने से केरल के लोग ज्यादा समय तक जीते हैं। पिछले 45 वर्षों में औसत भारतीय की उम्र में 20 सालों की बढ़ोत्तरी हुई। यह भी साफ पानी की वजह से हुआ है।

नागपुर स्थित रा ष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी शोध संस्थान यानी नीरी के मुताबिक निर्मली के बीज मटमैले पानी को भी साफ कर देते हैं। इसी तरह इलायची की पत्तियाँ और कई दूसरी जड़ी-बूटियाँ सरलता से उपलब्ध होती है जो परम्परागत रूप से पानी साफ करने के काम आती है। यदि इन तकनीकों को और उन्नत किया जाए तो बहुत सारी बीमारियों से आसानी से बचा जा सकता है।

वैज्ञानिकों के मुताबिक उपलब्ध पानी को काँच के एक साफ बर्तन में डालकर धूप में दो दिनों तक रखने से पानी साफ हो जाता है। सूर्य की रोशनी में मौजूद अल्ट्रा वायलेट किरणें पानी को जीवाणु-रहित बनाने में मदद करती है। पानी को साफ करने से यह सभी तरीके एकदम आसान और अहिंसक हैं।

निःसंदेह पानी छानकर पीना न केवल वैज्ञानिक, स्वास्थ्य विज्ञान और स्वच्छता शास्त्र के अनुरूप है बल्कि समूची सृष्टि के प्रति करुणा और मैत्री का संदेश है।



मर्यादित दही और वैज्ञानिक मान्यताएँ



-डॉ. अशोक जैन
-डॉ. निरंजन श्रोत्रिय

दूध, मानव जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। शिशुओं के पोषण से लेकर वयस्कों के भोजन एवं अन्य कई प्रकार के खाद्य पदार्थों के बनाने में दूध का उपयोग किया जाता है। दही भी दूध का एक परिवर्तित रूप है। दही के मन्थन से ही घी भी प्राप्त किया जाता है। जैनाचार में इन तीनों को रस माना गया है और खाने योग्य पदार्थों में शामिल किया गया है। साथ ही कुछ सीमाएँ-मर्यादाएँ भी निर्धारित की गई हैं जिनका उल्लंघन होने पर ये तीनों पदार्थ खाने योग्य नहीं रहते।

पशुओं से दूध प्राप्त करते समय पशुओं के स्तन को प्रासुक जल से साफ करना, दुहने का बर्तन और दूध दुहने वाले के वस्त्र एवं शरीर का स्वच्छ और पवित्र होना आवश्यक माना गया है। इतना ही नहीं बल्कि दूध दुहने के उपरान्त उसे तुरन्त लगभग 48 मिनिट से पहले गर्म करना भी आवश्यक है। ऐसा दूध और इससे बना दही और घी ही खाने योग्य है।

जैनागम में दही जमाने की निर्दोष विधि भी वर्णित है। एक प्रक्रिया तो यह है कि दूध में चांदी का सिक्का गर्म करके डाल दिया तो दही जम जाता है या फिर पूर्व में जमाए हुए दही को थोड़ा सा कपड़े में बांधकर साफ प्रासुक पानी से धोकर सुखा लिया जाए और इस सूखे हुए दही को दूध में डालकर नया दही बना लिया जाए। एक प्रक्रिया यह भी है कि पूर्व में जमाए गए दही में नारियल का बाहरी छिलका (कवच) या संगमरमर का टुकड़ा या चांदी का सिक्का या बादाम डालकर कुछ देर रख दें फिर इन्हें निकालकर धोकर सुखा लें और जब कभी दही जमाना हो तो इनमें से किसी एक का उपयोग कर लें। सीधे दही से जामन द्वारा दही जमाने की प्रक्रिया निर्दोष नहीं मानी गई है, क्योंकि ऐसी दही मर्यादा से अधिक समय का हो जाने से खाने योग्य नहीं रहता।

यह तो हुई जैनाचार की प्रक्रिया, जिसे वर्तमान विज्ञान की कसौटी पर परखना भी जरूरी है। विज्ञान के अनुसार दही जमने की क्रिया जीवाणुओं (बैक्टीरिया) द्वारा सम्पन्न होती है। इसे किण्वन (फर्मेन्टेशन) कहते हैं।

जीवाणु शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द (बैक्टेरियनरॉड) से हुई। जीवाणु अत्यन्त सूक्ष्म एककोशीय (यूनीसेल्युलर) जीव हैं। जीवाणु उन सभी स्थानों पर पाए जाते हैं जहाँ पर ऊर्जा स्रोत उपलब्ध हों। इनका सूक्ष्म रूप, तीव्र विभाजन क्षमता, प्रतिरोधी अन्तर्बीजाणु और पोषण में विविधता आदि इन्हें सर्वव्यापी बनाती है।

सन् 1969 में आर.एच. व्हिटेकर ने सूक्ष्मजीवियों (माइक्रोब्स) के लिए दो श्रेणियाँ बनाई-

1. मोनेरा- इसके अन्तर्गत बैक्टीरिया तथा प्रोकैरियोट्स आते हैं।

2. प्रोटिस्टा- इसके अन्तर्गत शैवाल, प्रोटोजोआ आदि यूकैरियोट्स आते हैं।

अधिकांश वैज्ञानिक बर्गीज मैन्युअल ऑफ डिटरमिनेटिव बैक्टीरियोलॉजी (आठवां संस्करण, 1974) में दी गई वर्गीकरण पद्धति का अनुसरण करते हैं। बर्गीज ने जीवाणुओं को थैलोफायटा (एक पादप वर्ग) के अन्तर्गत एक स्वतंत्र वर्ग साइजोमाइसिटीज में रखा। इस प्रकार वैज्ञानिकों ने बैक्टीरिया को कवक यानी एक प्रकार का पौधा ही माना है हालांकि इसमें जन्तुओं के कुछ लक्षण भी पाए जाते हैं।

जीवाणु कोशा एक प्रारूपिक प्रोकैरियोटिक संरचना प्रदर्शित करती है जिसमें रक्षात्मक 'कोशाभित्ति', जीवन का भौतिक आधार 'जीवद्रव्य', श्वसन हेतु 'मीजोसोम्स', प्रकाश संश्लेषण हेतु 'क्रोमेटोफोर्स' तथा प्रोटीन निर्माण हेतु 'राइबोसोम्स' होते हैं। स्पष्ट नाभिक, माइटोकौण्ड्रिया, एंडोप्लज्मिक रेटीकुलम, गोल्जीकाय इत्यादि का इनमें अभाव होता है। इस तरह जीवाणु कोशा जीवन की सरलतम अभिव्यक्ति है। इसमें अन्य विकसित यूकैरियोटिक कोशा की तरह अलग-अलग कार्यों के लिए सुनिश्चित तंत्रों/कोशिका अंगों का अभाव होता है। इस तरह जीवाणुओं के सारे लक्षण जैनागम में वर्णित वनस्पति प्रकार के एक इन्द्रिय जीवों से मिलते-जुलते हैं। इन्हें वनस्पति प्रकार का एक इन्द्रिय जीव माना जा सकता है। जीवाणु पादप-जगत और मनुष्य-जगत को अनेक प्रकार से प्रभावित करते हैं। एशरिशिया कोलाई नामक जीवाणु तो मनुष्यों/पशुओं की छोटी आंत में सहजीवी की तरह रहकर विटामिन बी का निर्माण करता है।

किण्वन (फर्मेन्टेशन) या खमीरीकरण की क्रिया इन्हीं एक इन्द्रिय जीवाणुओं द्वारा सम्पन्न होने वाली रासायनिक क्रिया है। लुई पाश्चर ने सर्वप्रथम किण्वन को 'वायु-रहित जीवन' की परिभाषा दी। आधुनिक सूक्ष्मजीव वैज्ञानिकों के अनुसार किण्वन की नवीनतम परिभाषा इस प्रकार है-

''यह एटीपी (एडीनोसाइन ट्राय फास्फेट, समृद्ध ऊर्जा यौगिक) निर्माण की वह उपापचयी क्रिया है जिसमें कार्बनिक यौगिक इलेक्ट्रानदाता और इलेक्ट्रानग्राही दोनों तरह से व्यवहार करते हैं।''

फर्मेन्टेशन कई प्रकार का होता है। यहाँ मूलतः दो प्रकार के फर्मेन्टेशन को समझना जरूरी है- 1. लैक्टिक एसिड फर्मेन्टेशन- यह लैक्टिक एसिड बैक्टीरिया द्वारा वायु की उपस्थिति या अनुपस्थिति में होता है। यह भी दो तरह से होता है- (ए) होमोलैक्टिक- जिसमें केवल लेक्टेट ही बनता है और यह अनेक लैक्टिक बैक्टीरिया जैसे लैक्टोवेसीलस, स्ट्रेप्टोकोकस आदि के द्वारा होता है। (बी) हेटेरोलैक्टिक- इसमें ग्लूकोज अणु का

आधा हिस्सा ही लैक्टेट में परिवर्तित होता है। यह अन्य लैक्टिक बैक्टीरिया द्वारा सम्पन्न होता है। 2. अल्कॉहलिक फर्मेन्टेशन - यह यीस्ट द्वारा एक प्रारूपिक अनौक्सी उपापचय है।

वैज्ञानिकों ने लैक्टिक एसिड तथा अल्कॉहलिक फर्मेन्टेशन को ग्लायकोलिसिस का किचिंत रूपान्तरण ही माना है। ग्लायकोलिसिस जीवमात्र के श्वसन (रेसपाइरेशन) में होने वाला प्रथम चरण है। इस तरह फर्मेन्टेशन एक अत्यन्त ही प्राकृतिक एवं स्वाभाविक प्रक्रिया है। उपरोक्त दोनों प्रकार के फर्मेन्टेशन में पायरुविक एसिड बनता है। होमोलैक्टिक एसिड फर्मेन्टेशन में पायरुविक एसिड सीधे लैक्टिक एसिड में अवकृत (रिड्यूज) हो जाता है। इसके विपरीत अल्कॉहलिक फर्मेन्टेशन की प्रक्रिया अधिक जटिल है। इसमें पायरुविक एसिड का डिकार्बोक्सिलेशन होकर एसिटेलिड्हाइड बनता है। जो अन्ततः इथाइल अल्कोहल में अवकृत हो जाता है। चूंकि बनने वाला अंतिम उत्पाद अल्कॉहल एक मादक पदार्थ है अतः अल्कॉहलिक फर्मेन्टेशन को वर्जित माना जा सकता है तथा लैक्टिक एसिड फर्मन्टेशन का अंतिम उत्पाद मात्र एसिड होने से ग्राह्य माना जा सकता है।

दूध से दही बनने की प्रक्रिया में दूध में उपस्थित केसीन घटक स्कन्दित (कोएगुलेट) हो जाता है। दही को अधिक समय तक रखने से बैक्टीरिया की कुछ जातियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। अम्लीयता नष्ट होने लगती है एवं प्रोटीन घटक के अपघटन से एमीन, अमोनिया इत्यादि एल्कालाइन पदार्थों का निर्माण होने लगता है। सूडोमोनास, एक्रोमोबेक्टर एवं यीस्ट आदि बैक्टीरिया की प्रजातियाँ लाइपेज नामक एन्जाइम का निर्माण करती है जो कि वसा को जल अपघटित कर ग्लिसरॉल एवं कुछ वसीय अम्लों में परिवर्तित कर देती है। दही में दुर्गन्ध आने का यही कारण है। जैन आहार पद्धति में दही के उपयोग की मर्यादा निर्धारित करना इस तरह वैज्ञानिक तथ्यों के अनुरूप है।

जैनागम में वनस्पति एवं जल आदि को खाद्य सामग्री के रूप में उपयोग में लेने से पूर्व प्रासुक करना अर्थात् बैक्टीरिया रहित करना अनिवार्य माना गया है। दही को प्रासुक करने की प्रक्रिया उसे बिलोने या थोड़ा-सा मंथन करने से हो सकती है। वैसे बैक्टीरिया के बारे में विज्ञान का मानना है कि वह गर्म करने या क्रस करने से भी नहीं मरते उसके प्रतिरोधी अन्तर्बीजाणु सुप्त अवस्था में पड़े रहते हैं और अनुकूलता मिलते ही पुनर्जीवित हो जाते हैं। जैनागम में वर्णित प्रासुक करने की प्रक्रिया का उद्देश्य मात्र एक निश्चित समय के लिए उस खाद्य सामग्री को बैक्टीरिया की उत्पत्ति से मुक्त करना है।

इस तरह जैन आहार विज्ञान के अनुसार निर्दोष रीति से जमाया गया मर्यादित दही खाने योग्य है यह बात विज्ञान सम्मत और निरापद है। इडली, डोसा और रोटी बनाने वाला पानी में गूंथा हुआ आटा भी खमीरीकरण (फर्मेन्टेशन) की प्रक्रिया के उदाहरण हैं। जो सुपाच्य, निर्दोष और खाने योग्य माने गए हैं।



अण्डे एवं दूध : कुछ वैज्ञानिक तथ्य



-डॉ. अशोक जैन

वर्तमान वैज्ञानिक युग में नई-नई खोजों एवं आविष्कारों ने नए-नए आयाम स्थापित किए हैं। कई अवधारणाएँ गलत सिद्ध हुई हैं तो अनेकों रूढ़िवादी मान्यताओं को वैज्ञानिक आधार भी मिला है। वातावरण, आहार, विहार, जीव संरचना, जैविक विकास, जीवन चक्र इत्यादि से संबंधित इतनी उपलब्धियाँ वैज्ञानिक शोधों के आधार पर प्राप्त हुई हैं कि कई मान्यताओं पर से आवरण उठ गया है। ऐसे वैज्ञानिक युग में जब वास्तविकता के ऊपर झूठ का पर्दा डालकर सच को दबाने की कोशिश की जाती है तो मन वेदना से भर उठता है। शरीर पुष्टि का बहाने लेकर कुछ ऐसी वस्तुओं के भक्षण का प्रचार किया जाता है जो कि वास्तव में अभक्ष्य हैं एवं प्रतिरोध करने पर कुछ भक्ष्य वस्तुओं का लक्ष्य कर उनकी तुलना भी अभक्ष्यों से की जाती है। ऐसी स्थिति में सामान्यजन असमंजस की स्थिति में पड़ जाते हैं।

वर्तमान में ऐसा ही प्रचार अण्डे के संबंध में किया जा रहा है। अण्डे को शाकाहार बताकर जनसामान्य को खाने के लिए प्रेरित किया जा रहा है। जब शाकाहारियों द्वारा अण्डे को मासांहार बताया जाता है तब प्रत्युत्तर में उनसे कहा जाता है कि दूध भी तो पशुओं से प्राप्त होता है फिर उसका सेवन क्यों?

प्रस्तुत लेख में अण्डे एवं दूध से सम्बन्धित कुछ वैज्ञानिक तथ्य दिए गए हैं। यह ऐसे तथ्य हैं जो विज्ञान की खोजों पर निरूपित किए गए हैं एवं सर्वमान्य हैं।

अण्डा-

प्रकृति के समस्त जीवधारियों, चाहे वह त्रस हो अथवा स्थावर, का शरीर अति सूक्ष्म कोशिकाओं का बना होता है। कुछ जीवों का शरीर एक कोशिका (सेल) का होता है एवं कुछ बहु कोशिकीय होते हैं। सुप्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिकों स्लीडन एवं श्वान ने सन् 1938-1939 में कोशिका सिद्धांत प्रतिपादित करते हुए निम्न प्रमुख तथ्य दिए थे-

1. प्रत्येक जीव का शरीर कोशिकाओं एवं उनके अवयवों से बना होता है।

2. सम्पूर्ण जीवित शरीर की समस्त क्रियाएँ शरीर में उपस्थित प्रत्येक कोशिका की क्रियाविधि एवं कई कोशिकाओं की अंतक्रियाओं का परिणाम होती है।

उपरोक्त सिद्धांत से स्पष्ट है कि प्रत्येक कोशिका क्रियाशील होती है एवं अन्य कोशिकाओं से सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता रखती है।

प्रत्येक कोशिका में दो भाग होते हैं एक कोशिका द्रव (साइटोप्लाज्म) एवं दूसरा नाभिक (न्यूक्लिअस)। कुछ अपवादों को छोड़कर लगभग सभी कोशिकाओं में नाभिक उपस्थित होता है। यह नाभिक ही समस्त क्रियाविधियों का केन्द्र बिन्दु होता है। नाभिक में गुणसूत्र (क्रोमोसोम्स) पाए जाते हैं जिनकी संख्या एवं आकार प्रत्येक प्राणी में निश्चित होती है। भिन्न-भिन्न प्रजातियों के प्राणियों में इनकी संख्या एवं आकार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। इन गुणसूत्रों में ही जीन्स पाए जाते हैं जो कि एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानान्तरित होते हैं। यह जीन्स ही माता-पिता के गुणों एवं शरीर रचना के लिए जिम्मेदार होते हैं। इन जीन्स के अभाव में अगली पीढ़ी (संतति) असम्भव है। कोशिका द्रव्य वृद्धि एवं विभाजित होती हुई कोशिका को सुरक्षा एवं भोज्य पदार्थ प्रदान करना है।

मुर्गी का अण्डा भी एक बड़े आकार की कोशिका होती है, जिसमें उपरोक्त सभी अवयव उपस्थित होते हैं। यह अण्डा मुर्गी के अण्डाशय में बनता है। इस अण्डे में एक नाभिक होती है एवं पीले एवं सफेद रंग की योक की सतहें होती हैं। अण्डाशय से यह अण्डा डिम्बवाहिका में स्थानान्तरित हो जाता है। इस वाहिका (नली) में यदि मुर्गे के शुक्राणु संभोग के बाद आ जाते हैं तब यह अण्डा निषेचित हो जाता है। यदि शुक्राणु नहीं होते तो अण्डा अनिषेचित ही रह जाता है। एक सूक्ष्म अण्डे को अण्डाशय तक आने एवं वहां परिपक्व होने में लगभग 25 घंटे का समय लगता है।

वैज्ञानिक पाइक (1986) के अनुसार ऊपरी कठोर आवरण एवं सफेद योक मुख्य रूप से अण्डे को सुरक्षा प्रदान करते हैं जबकि पीला योक भ्रूण वृद्धि हेतु भोजन तत्व देता है। एक निषेचित अण्डे में चूजे नाभिक से ही बनते हैं। ऊपरी कठोर आवरण बढ़ते हुए भ्रूण को केल्शियम की आपूर्ति करता है।

उपरोक्त तथ्यों से सिद्ध है कि अण्डा चाहे निषेचित हो अथवा अनिषेचित उसमें समस्त जैविक क्रियाओं के संचालन की क्षमता होती है। अनिषेचित अण्डे में वह समस्त प्रकार के जीन्स उपस्थित रहते हैं जो कि एक नई संतान को उत्पन्न कर सके। यह एक अलग बात है केवल तथाकथित खाद्य अण्डा प्राप्त करने के लिए मुर्गी का संसर्ग मुर्गे से नहीं कराया जाता। अब यह स्वयं ही विचारणीय है कि एक अण्डा जिसमें जीवित नाभिक एवं अन्य तत्व मौजूद हैं कहाँ तक शाकाहार की श्रेणी में रखा जा सकता है।

दूध-

अण्डे से सम्बन्धित उपरोक्त तथ्यों को जानने के बाद कुछ कुतर्क दिए जाते हैं कि फिर तो दूध भी जानवरों के शरीर में बनता है फिर वह कैसे खाने योग्य हो सकता है। वास्तविकता यह है कि रक्त, मांस या अण्डे की तरह दूध जीवन का अभिन्न अवयव नहीं है। लोग अण्डे को शाकाहार साबित करने की धुन में दूध को मांसाहार कहने का षड्यंत्र रच रहे हैं।

यद्यपि दूध पशु निर्मित पदार्थ है, फिर भी उसमें कोशिका जैसी कोई सरंचना नहीं होती है। नाभिक या जीन्स इत्यादि जीवित तथ्यों का भी अभाव होता है। विभिन्न जैविक क्रियाएँ जैसे कि श्वसन, उत्सर्जन, निषेचन आदि भी दूध में नहीं होती है। दूध तो एक सफेद तरल द्रव है जो कि स्वयं ही शिशुओं के पोषण हेतु उत्पन्न होता है। दूध में प्रमुख रूप से जल, प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेटस एवं कई खनिज तत्व होते हैं। हल्का सफेद-पीला रंग दूध में उपस्थित वसा कणों से होता है। स्त्रियों एवं जानवरों का दूध एक समान ही होता है, गाय के दूध में कुछ प्रोटीन अधिक होते हैं एवं कार्बोहाइड्रेटस कम होते हैं।

वर्तमान में कुछ अन्य पदार्थों से भी कृत्रिम दूध का निर्माण किया जा रहा है जो कि गुणवत्ता में पशु दूध के लगभग ही है। अर्थात् दूध का निर्माण किया जा सकता है परन्तु अण्डे का कृत्रिम निर्माण नहीं किया जा सकता। सोयाबीन आदि के बीजों से दूध बनाया जा रहा है दूध एक निष्क्रिय एवं उप्पल उत्पाद है जिसका शरीर से बाहर निकलना आवश्यक है। स्तनों में अधिक समय तक दूध संचित रहने से अनेक रोगों को उत्पन्न होने की संभावना बढ़ जाती है।

इससे पहले कि हम दूध को मांसाहारी कहें, हमें जान लेना आवश्यक है कि हम अपनी मां के स्नेह-सिक्त आंचल से दूध पीकर ही पले बढ़े हैं, और हम मांसाहारी नहीं हैं। जन्म से सभी मनुष्य शाकाहारी ही होती हैं।

उपरोक्त वैज्ञानिक तथ्यों से स्पष्ट है कि अण्डा शाकाहार कदापि नहीं है। अण्डे में कोलेस्ट्राल इतना अधिक होता है कि वह रक्त धमनियों को अवरुद्ध कर हृदयरोग उत्पन्न करने में सहायक होता है। यह तो जैन धर्म का सिद्धांत ही है कि दूसरे जीवों को शारीरिक एवं मानसिक कष्ट देने से स्वयं भी वह कष्ट पाते हैं। यद्यपि दूध शाकाहार है फिर भी उसके उपयोग की मर्यादाएँ सीमित हैं। एक निश्चित अवधि के पश्चात् दूध में भी जीवाणु क्रियाशील हो जाते हैं। बछड़े को पर्याप्त स्तनपान के पश्चात् ही दूध दुहना चाहिए। अण्डे की तरह दूध से आज तक किसी शिशु की उत्पत्ति नहीं हुई है। दूध तो मात्र शिशु आहार है। महान वनस्पति शास्त्री डॉ. वेक्सटर ने भी सिद्ध कर दिया है कि अण्डे में भी हमारी तरह जीवन धड़कता है जितना अंतर करुणा एवं क्रूरता में है, उतना ही दूध एवं अण्डे में है। निर्णय आपको करना है कि आप क्या चुनते हैं दूध या अण्डा? करुणा या क्रूरता?

संदर्भ ग्रंथ-

1. वी.टी. वर्टन, ह्यूमन न्यूट्रीशन, टी.एम.एच. प्रकाशन के. नई दिल्ली 1986
2. मेग्रस पाइक, सक्सेज इन न्यूट्रीशन, जॉन मूरे प्रकाशन, लंदन 1986.



जीवाणुओं पर नियंत्रण के उपाय और जैन मान्यताएँ



-डॉ. निशा जैन

1. प्रशीतनः-

कम तापमान पर जीवाणवीय इन्जाइम की रासायनिक सक्रियता कम हो जाती है, जिससे उनकी वृद्धि और जनन क्रिया रुक जाती है, या कम हो जाती है। जैन शास्त्र भी इस बात का समर्थन करते हैं, और खाद्य पदार्थों की मर्यादा (खाने योग्य समय) का निर्धारण बड़ी सूक्ष्म और वैज्ञानिक सूझबूझ से करते हैं। ठंड के दिनों में सभी खाद्य वस्तुओं की मर्यादा अन्य ऋतुओं की अपेक्षा अधिक बताते हैं। यह प्राकृतिक प्रशीतन है।

ठंड के दिनों में पीसकर रखा गया आटा सात दिन तक विविध व्यंजन बनाने योग्य है, वहीं बारिश और ग्रीष्मकाल में क्रमशः तीन दिन और पांच दिन तक खाने योग्य है।

आज कृत्रिम प्रशीतन की सुविधा भले ही हो, पर वह अहिंसक और स्वास्थ्यप्रद नहीं है।

2. ऊष्माः-

अधिक तापमान पर जीवाणुओं का जनन रुक जाता है। अनेक प्रकार के जीवाणु उबलते जल में रह नहीं पाते। कुछ जीवाणु शुष्क उष्मा में नहीं रह पाते। कुछ उच्च दाब वाली वाष्प में नहीं रह पाते। इस प्रक्रिया को प्रासुकीकरण कहते हैं। जैन मान्यता के अनुसार साधक को खाने-पीने की सभी वस्तुएं गर्म करके खाने की हिदायतें दी गई हैं। पानी भी उबालकर पीने की बात कही है, जो विज्ञान सम्मत और अहिंसक है। जीवों को बचाने की भावना से युक्त है।

3. निर्जलीकरणः-

खाद्य पदार्थों से उस मात्रा तक जल निकाल दिया जाता है जिसके पश्चात् खाद्य पदार्थों पर जीवाणु न तो वृद्धि ही कर सकते हैं और न ही एन्जाइम का स्रावण कर पाते हैं। उपयोग में लाने के लिए इस प्रकार सुखाकर रखे गए पदार्थों को पुनः गीला कर लेते हैं जिसे पुनर्जलित करना कहते हैं। जैन घरों में आज भी कई खाद्य वस्तुओं को सुखाकर सुरक्षित रखने की विधि अपनाई जाती है। कच्चे आम, आंवला, कचरिया इसी प्रक्रिया से कई दिन तक सुरक्षित बने रहते हैं।

सूखे फल मेवे निर्जलीकरण के कारण ज्यादा दिनों तक सुरक्षित रहे आते हैं। साथ ही प्राकृतिक और पौष्टिक भी होते हैं। सूखे भूने चने खाना या उसका आटा बनाकर सत्तू के रूप में खाना आज के बाजरों में बिकने वाले तुरता खाने से ज्यादा अहिंसक बेहतर और सस्ता स्वास्थ्यवर्धक भोजन है।

4. धुआं देनाः-

खाद्य पदार्थ गैसों की रासायनिक क्रिया द्वारा भी परिरक्षित हो जाते हैं। चौके में सिगड़ी और चूल्हे में जलाई जाने वाली विभिन्न प्रकार की लकड़ियों से होने वाला धुआं रसोईघर को और वहां रखी विविध खाद्य सामग्री को अनायास ही जीवाणुओं से सुरक्षित कर देता है। चौके का अपेक्षाकृत अधिक तापमान भी जीवाणुओं के जनन को आपोआप कम कर देता है।

5. परासरण दाबः-

अत्यधिक गाढ़ापन और सान्द्रता तथा दबाव जीवाणु की वृद्धि को रोकता है। प्रेशर कुकर इसी सिद्धांत पर आधारित है। जैन घरों में दूध को गाढ़ा करके ज्यादा देर तक सुरक्षित रखने की प्रक्रिया आज भी जीवित है।

6. सूर्य प्रकाशः-

अनेकों जीवाणु सूर्य के प्रकाश में उत्पन्न ही नहीं हो पाते, वृद्धि भी नहीं कर पाते। नीली, बेंगनी और पराबैंगनी किरणें रोगजनक जीवाणुओं पर अत्यन्त प्रभावशाली होती हैं। जैन आचार संहिता इसी वैज्ञानिक तथ्य को पुष्ट करती हुई वर्षों से रात्रि-भोजन का निषेध करती आ रही है, दिन में सूर्य प्रकाश में ही अपना भोजन खा लेने की बात कह रही है, वक्त रहते हमें उसे समझना और आचरण में लाना चाहिए।

7. पाश्चुरीकरणः-

यह दूध को ज्यादा समय जीवाणुओं से सुरक्षित रखने की प्रक्रिया है। इसमें पहले लगभग 15 सेकेण्ड तक दूध को 160 डिग्री फैरनहाइट तापमान तक गर्म किया जाता है, फिर तुरन्त कम तापमान पर ठंडा कर देते हैं। ऐसा करने से जीवाणुओं की उत्पत्ति रुक जाती है। इस प्रक्रिया में जीवाणुओं के बीजाणु बचे रहने की संभावना होती है, लेकिन सौभाग्य से दूध में पाये जाने वाले जीवाणु बीजाणु नहीं बनाते और दूध ज्यादा देर तक सुरक्षित रहा आता है।

साधारणतः घरों में दूध को दुहने के बाद अड़तालीस मिनिट होने से पहले छानकर खूब अच्छी तरह से दो-तीन उफान आने तक उबाल लिया जाता है। ऐसा दूध चौबीस घंटे तक सुरक्षित रखा जा सकता है। जैन घरों में धीमी आंच पर ज्यादा देर तक दूध को गर्म रखने की प्रक्रिया भी विज्ञान सम्मत है। दरअसल ऐसा करने से गर्म बर्तन दूध या अन्य पेय पदार्थों में जीवाणुओं के प्रवेश पर बंदिश लगाता है।

जैन आचार संहिता आदमी को प्रकृति के समीप रहकर जीवन जीने की सलाह देती है। ज्यादा से ज्यादा स्वाभाविक और सहज बनाती है। सबको बेहतर जीने का मौका देती है। जीवत्व के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धा व्यक्त करती है।

हमें ऐसी जीवन्त संहिता को अपनाना और बढ़ावा देना चाहिए। अपनी गौरवशाली परम्पराओं के प्रति एक खोजी वैज्ञानिक की तरह विनत और सजग होना चाहिए।



भूमिगत वनस्पतियाँ : विज्ञान की आंख से



-डॉ.आर.के. जैन

प्रकृति के पास देने के लिए सब कुछ है, खाने- पीने की सामग्री से लेकर ओढ़ने-बिछाने और रहने की सारी सुविधाएँ प्रकृति हमें देती है, पर प्रकृति में सबकुछ हमारे लिए ही हो, ऐसा नहीं है। हम प्रकृत्ति के महत्वपूर्ण घटक हैं और प्रकृत्ति का उतना ही भाग हमारे लिए है जितने से हमारा जीवन-यापन अच्छी तरह से हो सके। अपनी जरूरतें बढ़ाना, या जरूरत से ज्यादा संग्रह करने की कोशिश करना प्रकृति को खतरे में डालकर अपने लिए संकट निमंत्रित करना है।

जैनाचार में समूची प्रकृति की सुरक्षा को ध्यान में रखकर संतुलित आहार-विहार की बात कही गई है। खाने-योग्य पदार्थों और नहीं खाने योग्य पदार्थों का साफ-सुथरा, अहिंसक और वैज्ञानिक लेखा-जोखा जैनाचार में मौजूद है।

आइये, वर्तमान विज्ञान के संदर्भ में भूमिगत वनस्पतियों पर पुनर्विचार करें-

जैसा कि हम जानते हैं कि एक पौधे और उसके समुदाय (कम्यूनिटी) के चारों ओर पाया जाने वाला सभी कुछ, जो पौधे के जीवन पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव डालता है- वातावरण (एन्वायरोन्मेंट) कहलाता है। यह वातावरण जैविक (बायोटिक) और भौतिक (एबयोटिक) दोनों तरह का होता है। जैविक वातावरण के अंतर्गत पेड़-पौधे और जीव-जन्तु आते हैं, भूमि, जल, वायु, प्रकाश और ताप,आदि को भौतिक वातावरण माना गया है।

प्रत्येक पौधे के जीवन का भूमि से संबंध महत्वपूर्ण है। पौधे की जीवन प्रक्रिया भूमि से प्रारम्भ होती है और जीवन का अवसान भी भूमि में ही होता है। भूमि के ऊपरी भाग में पौधे की जड़ें पाई जाती हैं और बड़े वृक्षों में ये अपेक्षाकृत निचले भाग में होती है। भूमि एक ऐसी जटिल संरचना है, जिसमें ठोस, द्रव और वायु तीनों अवस्थाओं का सम्मिश्रण है। शैवाल (अल्गी), फफूँद (फंजाई), प्रोटोजोआ, रोटीफर्स, निमेटोडस, आलीगोकीट्स, मॉलस्क और अर्थोपोड्स प्रमुख हैं। ये सभी भूमि-जीव, भूमि के जैविक घटकों (बायोटिक काम्पोनंट्स) का निर्माण करते हैं। जड़ों के ऊपर और आसपास पोषक तत्वों के अत्यधिक रिसाव (सिक्रीशन) के कारण ये अपेक्षाकृत अधिक होते हैं।

एक सामान्य पौधे के शरीर की रचना देखने से मालूम पड़ता है कि उसमें विभिन्न कार्यों का संपादन उसके भिन्न-भिन्न अंगों द्वारा होता है, जैसे- जड़ें (रूट्स), स्थितिकरण (स्टेब्लाइजेशन), जल व खनिज लवणों का अवशोषण (एब्जोर्प्शन) तथा जल व खनिज

लवणों का संवहन (कंडक्शन)। तने (स्टेम्स) का काम जड़ों द्वारा अवशोषित जल और खनिजों का संवहन करना, पौधे की रक्षा करना, और उसे सहारा देना है। पत्तियाँ भोज्य पदार्थों के निर्माण और अग्रस्थ कलिका (एपीकल बड) की रक्षा में लगी रहती है। पुष्पों का प्रमुख कार्य जनन-अंगों का निर्माण करना है। बीज और फल जननक्रिया और चिरजीवन बनाए रखने में सहायक है।

इसके अतिरिक्त कुछ विशेष पौधों की जड़ें, तना, पत्ती जैसे वर्धी अंग (वेजीटेटिव पार्ट्स) रूपान्तरण का कार्य भी करते हैं, जैसे- तना पत्ती का, पत्ती पुष्प का और पुष्प पत्ती का कार्य करता है। इस रूपान्तरण (मॉडीफिकेशन) का प्रमुख उद्देश्य भोज्य पदार्थों का संग्रह करना और चिरकाल तक जीवित रहने की क्षमता (पेरीनेशन) बनाए रखना है। प्रत्येक पौधे को अपना जीवन-चक्र पूरा करने के लिए प्रकृति में सदैव अनेक प्रकार के संघर्ष करने होते हैं। उस पर वातावरण का तनाव (स्ट्रेस) हमेशा बना रहता है। चूंकि ये स्थूल काय भी है, इसलिए अपने स्थायित्व और अस्तित्व (सर्वाइवल) के लिए वे अनेक प्रकार के अनुकूलन (एडॉप्टे-शन) भी उत्पन्न करते हैं।

शाकीय पौधों की मुख्य जड़ के रूपान्तरण के कुछ उदाहरण हैं, जैसे- गाजर, मूली आदि जिन्हें बहुधा लोग अपने भोज में शामिल करते हैं, इन पर हम विचार करें-

मूली (रेडिस) (रेफेनस सेटाइवस), शलजम (टर्निप) (ब्रेसीका-रांपा), चुकन्दर (बीटा-वल्गेरिस), गाजर (केरट) (डाकस केरोटा), और टेपियॉका- ये सभी जड़ें मुख्य जड़ (टेप रुट) के रूपान्तरण हैं।

इनके पौधे अपना जीवन-चक्र दो ऋतुओं में पूरा करते हैं। रूपान्तिरत जड़ें भोज्य पदार्थों का संचय करती हैं। इन जड़ों द्वारा ही पौधे अपने चिरजीवन (पेरीनेशन) की क्रिया को पूरा करते हैं। जिन पौधों में मुख्य जड़ अनुपस्थित रहती हैं, उनमें पाई जाने वाली अपस्थानिक जड़ें (एडवेन्टीटस रूट्स) या शाखित जड़ें (ब्रान्च्ड रूट्स) भोज्य पदार्थों का संग्रह करती हैं।

शकरकंद (स्वीट पोटेटो) (आइपामोइया-बेटाटस), शतावर (एसपेरागस), आमा हल्दी (मेंगो जिंगर) (कर्क्यूमा-एमाटा), अंगीठा (डिस्कोरिया अलाटा), अदरक (जिंजर) (जिंजीवर ओफीसिनेल), लहसुन (गार्लिक) (एलीयम सेटाइवम)- इन सभी की जड़ें अपस्थानिक भूमिगत तनों, कन्दिकाओं (कार्म) और राइजोम से निकलती हैं, जो पौधों के वायवीय भाग को सीधा और स्थिर रखती हैं, क्योंकि इनका तना भूमिगत होता है जो पौधे को पर्याप्त दृढ़ता प्रदान नहीं कर पाता। तना केवल पत्तियों द्वारा बनाए गए भोजन का संग्रह करता है।

उपर्युक्त सभी शाकीय पौधों की जड़ें अवशोषण और स्थिरीकरण के अतिरिक्त पौधे के जीवन के लिए पत्तियों द्वारा बनाए गए भोज्य पदार्थों का संचय करती है। असल में, मूली,

गाजर आदि जड़ें एक ऋतु में केवल वर्धी (वृद्धि) करके अपना भोजन एकत्रित करती हैं। इसके उपरान्त इनकी पत्तियाँ लगभग समाप्त हो जाती है और पौधा अपनी जनन-दशा (रीप्रोडक्शन फेज) में प्रवेश करता है। जिसके लिए आवश्यक भोज्य पदार्थ इन्हीं फूली हुई गाजर मूली रूप मांसल जड़ों द्वारा प्रदान किया जाता है, ताकि फूल और बीज का निर्माण आसानी से हो सके।

पौधे के जीवन-चक्र में जब मात्र जड़ें, तना, और पत्तियाँ ही विकसित होती हैं और यदि अचानक प्रतिकूल परिस्थितियाँ आ जाएँ तो भी ये जड़ें (यदि हम इन्हें नहीं उखाड़ें तो) सुषुप्त अवस्था में भूमि में बनी रहती है और अगली ऋतु में अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त होने पर पुनः नए पौधे को जन्म दे देती है।

कुछ ऐसे भी शाकीय पौधे हैं, जो तने को रूपान्तरित करके जीवन की कठिनाइयों को आसान बनाने का प्रयास करते हैं। इनमें अदरक (जिंजर, जिंजीवर ऑफीसिनेट), हल्दी (टर्मेरिक, करक्यूमा डामेस्टिका), कमलनाल (लोटर वाटर लिली), नीमकिया (एस्क्यू-लेंटा), प्रकन्द (राइजोम), और आलू (पोटेटो ट्यूबेरोसम) प्रमुख हैं।

इन भूमिगत तनों से नई अग्रस्थ कलिकाएँ (एवीकल बड्स) विकसित होकर वायवीय शाखाएँ बनाती हैं, वह वायवीय भाग जिसमें पत्तियाँ हरी होती हैं, सूर्य के प्रकाश से प्रकाश-संश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा भोज्य पदार्थों का निर्माण करता है। यही भोज्य पदार्थ धीरे-धीरे जमीन के भीतर आलू (कन्द या प्रकन्द) के रूप में एकत्रित हो जाता है। कन्द या प्रकन्द के मोटा और मांसल हो कर विकसित होते ही पौधे की हवाई शाखाएँ सूख कर मृतप्रायः हो जाती हैं और यह कन्द या प्रकन्द भूमि में सुषुप्तावस्था (डॉरमेन्ट फेज) में पड़ा रहता है, जो पुनः अनुकूल परिस्थिति में अगली ऋतु में जाग्रत होकर नई शाखाएँ बना कर अपनी चिरजीवन और प्रजनन की क्रियाओं को संपन्न करता है।

आलू के बारे में विशेष बात यह है कि यह भूमिगत तना है जो भोज्य पदार्थों के संचय होने से गोल और मांसल हो जाता है। अनुकूल परिस्थितियों में इस गोल कन्द से वायवीय प्ररोह (एरियल सूट्स) उत्पन्न होते हैं, जिन पर शाखाएँ और पत्तियाँ बनती हैं। इन गोल कन्दों में कलिकाएँ भी होती हैं, जिन्हें आंख (आई) कहते हैं। इसी में शल्क पत्र और कक्षस्थ कलिकाएँ (एक्सीलरी बड्स) होती हैं। एक कन्द में प्रायः इनकी संख्या आठ या दस होती हैं, जिनसे बाद में नए पौधे का निर्माण होता है।

कचालू, घुइयाँ, अरबी (कॉलोकेसिया) के तने धनकन्द कहलाते हैं। इनमें वायवीन तने के आधार पर या भूमि के तुरंत नीचे वाले भाग का तना गोलाकार हो जाता है और इससे अपस्थानिक जड़ें निकलती हैं। ये भूमि में ऊर्ध्वरूप से बढ़ते हैं। इनका शेष कार्य कन्द के समान ही होता है।

प्याज (ओनियन, एलियम सीपा) और लहसुन (गारलिक, एलियम सटाइवम) को शलकन्द कहा जाता है। जैसे कन्द (आलू) और धनकन्द (अरबी) में संचित भोजन तने में एकत्रित होता है, लगभग वैसे ही कुछ एकपत्री (मोनोकाट) शाकीय पौधों में तना एक चपटी बिम्ब (डिस्क) के आकार का हो जाता है, जो बाद में भोज्य पदार्थ के संचित होने से मोटी मांसल और गोल रचना बन जाता है। अग्रस्थ कलिका बीच में होती है, जिससे नया पौधा और शलकन्द बनता है। इसमें बीज और पुष्प भी बनते हैं। फर्क यही है कि भूमिगत कन्द और प्रकन्द बनाने वाले पौधों में बीज नहीं बनते, इसलिए बीज का कार्य (चिरजीवन और प्रजनन) तने द्वारा ही संपन्न होता है।

इस तरह यदि हम देखें तो कुछ बातें विचारणीय हैं-

- यदि हम जड़, तना, कन्द या प्रकन्द किसी को भी भोज्य पदार्थ के रूप में लेते हैं, तो उस जाति के पौधे का संपूर्ण नाश होगा। क्या अन्य खाद्य पदार्थों, फल-सब्जियों के पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने पर भी इनका खाया जाना उचित है? जैनाचार्यों ने एक फल खाने के लिए समूचे वृक्ष, या पौधे को जड़-मूल से नष्ट करने की भावना रखने वाले को 'कृष्ण लेश्या' से युक्त माना है।
- पौधे का जीवन-काल पूर्ण हुए बगैर उसकी जड़ें, तना या कन्द उखाड़ना क्या उचित है?
- जमीन के भीतर जड़ों में तना, कन्द या प्रकन्द के रूप में पौधे के जीवन-यापन के योग्य एकत्रित की गई पौधे की भोज्य सामग्री को अपने भोजन में शामिल करना कहां तक उचित है?
- सूर्य-प्रकाश के अभाव में जीवन के भीतर और विशेष रूप से जड़, तना, कन्द या प्रकन्द के ऊपर और आसपास पोषक तत्वों के रिसाव के कारण प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म और स्थूल जीवों का घात क्या उन भूमिगत वनस्पतियों के उखाड़ने से नहीं होगा। इस तरह हम चाहें तो दो-चार भूमिगत वनस्पतियों को अपने भोजन में शामिल न करके प्रकृति को अधिक सुरक्षित करने में सहायक बन सकते हैं।

वनस्पति-शास्त्र के अनुसार मूंगफली (ग्राउंड नट, एराकिस हाइपोजिया) भूमिगत वनस्पतियों से पृथक है। इसके बनने की प्रक्रिया अलग है। इसकी फली जिसके भीतर बीज होता है उसे 'लेग्यूम' कहते हैं। मूंगफली के पुष्प पौधे में जमीन से ऊपर पत्तियों के साथ ही लगे पाए जाते हैं। पुष्प में परागण के फलस्वरूप निषेचन (फर्टीलाइजेशन) होने के पश्चात पुष्पवृन्त (पेडिन्कल) अधिक लम्बा होने लगता है, जिससे बनने वाली नई अविकसित फली जमीन के भीतर ऊपरी भाग में घुस जाती है और वहीं हल्की-सी नमी और उपयुक्त ताप के कारण तेजी से विकसित होने लगती है।

इस तरह यह फल अन्य भूमिगत तनों या जड़ों के समान विशेष रूप से रूपान्तरित न होकर एक सामान्य फल है। इसमें बीज कवच-रूपी फली के भीतर बंद रहता है, जिससे यह

सीधे जमीन के सम्पर्क में नहीं आता। यह जमीन से न तो कोई भोज्य पदार्थ अवशोषित करता है और न ही जड़, तने, कन्द या प्रकन्द की तरह यह पौधे के चिरजीवन या पोषण के लिए अनिवार्य होता है। इसे पौधे से अलग कर लेने पर पौधे को कोई क्षति नहीं पहुंचती।

मूंगफली पौधे के पूर्ण परिपक्व होने पर ही तोड़ी जाती है। अगर इसे न भी तोड़ें तो भी पौधा अपना जीवन-क्रम पूरा करके स्वयमेव सूख जाता है, अतः यह भूमिगत वनस्पति के उखाड़ने पर होने वाले दोषों से मुक्त है, और खाने में निषिद्ध नहीं है। भूमिगत वनस्पतियाँ नहीं खाने की सलाह देने वाले जैनाचार्यों का मन्तव्य और भी न जाने क्या रहा होगा। यह तो हम उनके जिनती ऊँचाइयों को छूकर ही जान पाएंगे पर वर्तमान -परिवेश में विकसित विज्ञान के संदर्भ में उक्त विचार करने की विनम्र कोशिश जरूर की जानी चाहिए।



उदम्बर फल : वैज्ञानिक तथ्य



-सुरेश कुमार जैन

आज धर्म और विज्ञान दोनों के समन्वित रूप की जरूरत का अनुभव हर आदमी करने लगा है। विज्ञान हमें सिर्फ भौतिक सुख-सुविधाएँ दे सकता है, लेकिन आत्मिक शान्ति के लिए हमारे साथ धर्म का होना भी जरूरी है। हमारे पूर्व मनीषी साधकों ने धर्म का जो वैज्ञानिक रूप हमें विरासत में दिया है, उसे देखने की कोशिश यदि हम करें तो संभव है, हमें आज के वैज्ञानिक युग में धर्म की वैज्ञानिकता पर गौरव हो और सुख-शान्ति मिले।

जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। जैनधर्म में वनस्पति को लेकर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है और आत्मिक ऊँचाइयाँ छूने वाले साधक के लिए अहिंसा के अन्तर्गत वनस्पति वाली बात की गहराई में उतरने पर मालूम पड़ता है कि इसके पीछे भी कोई विज्ञान काम कर रहा है। हम उदम्बर फलों को ही लें। जैन आचार-संहिता में इनके खाने का निषेध किया गया है। कहा गया है कि ये फल खाने योग्य नहीं है। मन में सहज ही प्रश्न उठता है कि ऐसा आखिर क्यों?

आइये, आज के विकसित वनस्पति-विज्ञान के आलोक में हम उदम्बर फलों पर विचार करें।

भारत में उदम्बर फलों की लगभग अस्सी प्रजातियाँ पाई जाती हैं। सभी उदम्बर फल लेटिन भाषा में 'फाइकस' कहे जाते हैं। प्रचलित पांच, छह प्रजातियां, जैसे- अंजीर (फाइकस केरिक), पीपल (फाइकल रिलीजियोसा), वट या बड़ (फाइकस वेगालेन्सिस), ऊमर (फाइकस हिसपीडा), पाकर (फाइकस रम्फी), गूलर (फाइकल ग्लूमरेटा), द्विबीजपत्ती वर्ग (डाइकाटीलीडनस क्लास) के अन्तर्गत मोरिसी (अर्टीकेसी) फेमिली में रखी गई हैं।

यह फल उदुम्बरक पुष्पक्रम (हाइपेन्थोडियम इनफ्लोरसेन्स) से उत्पन्न होते हैं। पुष्पासन (थेलेमस) खोखला और प्याले के समान रचना वाला होता है। इसी के भीतर पुष्प, समूह में पाये जाते हैं। पूरा पुष्पक्रम एक अत्यन्त छद्म संग्रथित फल (फॉल्स कम्पोजिट फ्रूट) बनाता है।

पीपल, बरगद, अंजीर, गूलर आदि उदम्बरों में परागण (पोलीनेशन) बहुत सूक्ष्म कीटों द्वारा होता है। ये कीट ब्लैस्टोफेगा वंश के होते हैं। इनमें से मुख्य कीट ततैया (ब्लैस्टोफैगा ग्रासोरम) है, जो अंजीर में परागण करता है। शायद यही कारण है कि आयुर्वेद शास्त्र में उदम्बर फलों को 'जन्तुफल' भी कहा गया है।

परागण की प्रक्रिया बड़ी अद्‌भुत है। उदम्बरक, जो नाशपाती या प्यालेनुमा होता है, उसमें कीट ऊपरी छिद्र द्वारा अंदर प्रवेश करता है। असल में, मादा कीट फूल में परागण के उद्देश्य से प्रवेश नहीं करती, उसका उद्देश्य वहाँ प्राप्त सुरक्षित जगह पर अण्डे देने का होता है, जैसे ही वह अन्दर प्रवेश करती है, छिद्र के पास उपस्थित नरपुष्पों के पराग-कण उस पर चिपक जाते हैं और भीतर गोलाई में कीट के घूमते वक्त वे पराग-कण मादा पुष्पों के संपर्क में आ जाते हैं और परागण क्रिया हो जाती है। मादा कीट, नर और मादा दोनों प्रकार के पुष्पों को क्षति पहुँचाये बिना अपने अण्डे हाइपेन्थोडियम के भीतर उपस्थित तीसरे प्रकार के पुष्पों यानी वंध्या पुष्पों (मॉल फ्लावर) में देता है, क्योंकि आगे चलकर इन अण्डों से निकलने वाली लार्वा (इल्ली) को भोजन इसी पुष्प से मिलता है, अण्डों से बनने वाले अधिकांश नर-कीट इसी उदम्बरक में मर जाते हैं और मादा-कीट उदम्बरक से बाहर निकलते वक्त नरपुष्पों से घर्षण होने के कारण पराग-कण अपने ऊपर चिपकाए हुए होते हैं, जो अन्य उदम्बरक में परागण के लिए पर्याप्त होते हैं।

इस तरह हम गौर से देखें तो पाते हैं कि उदम्बरक कीटों-का-प्रसूति-कक्ष है, जहाँ मादा कीट अपने अण्डों को सुरक्षित रूप से जन्म देती है, उत्पन्न होने वाले नरकीट लगभग सभी उसी में मर जाते हैं, और शेष नर व मादा कीट पुष्प से बाहर निकल आते हैं। इस दशा में इन पुष्प-रूपी-फलों को खाने का निषेध किया जाना एकदम वैज्ञानिक जान पड़ता है।

अंजीर के परागण में प्रक्रिया थोड़ी विशिष्ट है। अंजीर का उदम्बरक दो प्रकार का होता है। एक गोलपुष्प जिसमें निषेचन नहीं होता मात्र मादा कीट अपने अण्डे देती है। दूसरा पुष्प निषेचन-के-योग्य होता है जिसमें कीट परागण करती है और निकल जाती है। आश्चर्य होता है कि बाह्य उपकरणों से सुसज्जित प्रयोगशाला के बगैर अपने आन्तरिक ज्ञान से हमारे मनीषी पूर्वाचार्यों ने कितनी सूक्ष्म बात ज्ञात की है तथा हमें अनायास ही व्यर्थ जीवहिंसा से बचा लिया है।



कुष्ठ रोग और मांसाहार

-डॉ. एम.एम. बजाज



यदि मैं आपको पिन चुभो दूँ तो क्या होगा? पिन चुभने से आपको दर्द होगा। लेकिन आपको मालूम नहीं होगा कि हमारे कुछ भाई हैं जिन्हें पिन चुभोने से दर्द नहीं होता। चाकू से उनकी अंगुली कट जाए तो उन्हें कुछ नहीं होता, उन्हें दर्द का अहसास नहीं होता। यह स्थिति बनती है कुष्ठ रोग के कारण, जिसे सरल भाषा में कोढ़ कहते हैं। आज नए आंकड़ों के अनुसार इस रोग से प्रभावित लोगों की संख्या लगभग 6 से 8 मिलीयन हो चुकी है। मेरा इस रोग से वर्षों संबंध रहा है पहले एक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में फिर एक वैज्ञानिक शोधार्थी के रूप में।

आज से डेढ़ सौ साल पहले हैण्डसन ने कहा था कि 'माइक्रोवेक्ट्रिम लेप्री इज ए कॉजिटिव एजेन्ट ऑफ लेप्रोसी'। हमने इस बाबत सारे विश्व के डाटा (आंकड़े) इकट्ठे किए। भारत के प्रत्येक प्रान्त से आंकड़े इकट्ठे किए। जो निष्कर्ष निकले हैं वे आपके सामने रखने आया हूं। सारे निष्कर्ष आपकी जैनधारा से मिलते हैं। मैं इस मंच से वे निष्कर्ष उस धारा में समर्पित करता हूँ।

सत्य का पता लगाने के लिए बहुत हिम्मत चाहिए। सत्य कहने के लिए भी हिम्मत चाहिए। आज से कुछ साल पहले जब मैंने कहा कि 'स्मोकिंग इज वन ऑफ दी कॉजिटिव एजेन्ट फार लेप्रोसी' तो सारे लोग मेरे विरोधी हो गए। कहने लगे कि यह गलत बोला जा रहा है। मैंने कहा कि मैं डाटा (आंकड़े) लाया हूँ। आप देख लीजिए। कोई सामने नहीं आया। आज जो निष्कर्ष दे रहा हूँ वह मेरे 18 वर्ष के परिश्रम का फल है। वैज्ञानिक मंच पर हम लोग जो भी लाते हैं वह पूरी छानबीन के साथ लाते हैं। मेरा पूरा शोध पत्र 36 पेज का है जो अभी प्रकाशित होने के लिए किसी अच्छे जर्नल में जाएगा। इसमें हमने कहा है कि लेप्रोसी का एक प्रमुख कारण फ्लेसेरियन डाइट या मांसाहार है।

यह जानने के लिए कि किस तरह के मांस से इसका संबंध है, हमने न्यूरोपाइजन्स की खोज की। जो हमारे मस्तिष्क पर दुश्प्रभाव डालते हैं। यह सब पता लगाते- लगाते हमें मालूम पड़ा कि फुंगू (परफर) नाम की एक मछली होती है जिस पर जापान में बहुत काम हुआ। इस मछली में 4+ टॉक्सीसिटी (जहरीलापन) होती है। जहां मद्रास, बम्बई या बंगाल की तरफ मछली अधिक खाई जाती हैं वहां माइक्रोवेक्टीरियम लेप्री के चांसेज 10 गुना है। दिल्ली के उस इलाके में जहां लोग अधिकतर शाकाहारी हैं, मांस नहीं खाते वहां पर एक हजार में एक व्यक्ति इस रोग से पीड़ित है। अफ्रीका में सब तरह के जीव खाए जाते हैं वहां यह हालत है कि हजार में से 50 लोग पीड़ित हैं।

अब इस मंच से सुनने वाले मां, बहिने, बच्चे और विज्ञान के शोधार्थी सभी से एक ही निवेदन है कि ध्यान रखिए लेप्रोसी का एक प्रमुख उत्प्रेरक कारण मांसाहार भी है। मांसाहार हिंसा का भी प्रतीत है। आपका कर्तव्य है कि आप इससे बचें। लकवा मेरे पिता को हुआ, क्योंकि बचपन में उन्होंने मांस खाया। उस मांस का नतीजा उनके हम सब बेटे आज भी भुगत रहे हैं। हमारी पीढ़ी के बच्चे भुगत रहे हैं। सबकी आंखों पर चश्मा है। मैंने इसके लिए भी प्रमाण इकट्ठे किए हैं। सब जानते हैं कि हम जो खाते हैं उसका असर हमारी आंखों पर पड़ता है। नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ न्यूट्रीशियन ऑफ हैदराबाद ने बताया है कि विटामिन ए की अत्यन्त कमी से व्यक्ति अंधा भी हो सकता है।

यदि आपको मधुमेह है तो वह बढ़कर आपके खून की शिराओं को तोड़ देगा और नतीजा यह होगा कि आपकी आंखों में धुंधलापन आने लगेगा। इन सब बातों के आधार पर और जैनेटिक न्यूट्रीशन कान्सेप्ट के आधार पर हमने कहा है कि हमारे चश्मे का कारण जैनेटिक मायोपिया है। जो वंशानुगत चला आ रहा है।

इसके अलावा आज तेजी से फैलने वाले मस्कुलरडिस्ट्रॉफी का एक उत्प्रेरक कारण भी मांसाहार है। जो बच्चों को हो जाता है। बच्चा जनमतः तो चलता है सीढ़िया चढ़ता है उसके बाद धीरे-धीरे सीढ़ियां चढ़ने से इन्कार कर देता है। यह रोग महिलाओं को भी हो रहा है। मुझे आपसे इतना ही कहना है कि आप चाहे जिस धर्म के मानने वाले हों आपको स्वास्थ्य की रक्षा के लिए शाकाहार अपनाना चाहिए।



Evolution Theory of Jainism



-Devendra Kumar Jain

Several questions about the origin of life on earth and its relation with physical world still continue to baffle philosophers, religious-teachers and finally scientists. In fact, the genesis of philosophical thoughts can be well traced in the enquiries, concerning the nature of the universe. This Naturalistic-phenomena is common in both i.e. East and West Vedic-culture of East (specially of 'Rigveda') and pre- Socratic period of West highly highlight the nature of objective reality i.e. the physical world.

Later on, in the process of development of philosophical wisdom, the subjective reality i.e. the self and its relation to the physical world became a prominent subject of discussion among philosophers and religious-teachers of the world. Then, we find a lot of creation- theories promulgated by the philosophers as well as by the religious profounders. Most of the theories are formulated in the guasi-magical fashion. The creation of life as an act of bare will and the world as mere effect produced by a supreme- being , are popular notions of these theories. This led to develop various forms of 'ism' like Deism. Theism, and Pantheism in philosophy. When this god-oriented approach could not solve the riddle of existence rationally, some thinkers have followed the path against the traditional view of creation.

Socrates[1] set his face against' all discussions of such high matters as the nature of the universe, how the cosmos came into being: or by what forces the celestial phenomena arise? To trouble one's brain about such matters was to play the fool." The similar revolt against all such cosmological speculations was taken in India by Budhha, the founder of Buddhistic school of Indian systems. He had firmly assigned all such questions under the category of 'avaktavya' (un-answerable). In this line of thinking, human-reasoning can not be suppressed for a long time.

The present age is stamped with a hallmark of marvellous achievements of science. Scientists, says Dr. Mahajan[2] "have a way of telling sense from non-sense." The grudging trialerror process of science has produced many theories about the origin of Universe, life and man. Evolution-theory of Charles Darwin, has revolutionlised the thinking of Scientists. Until recently, most of the scientists were heaviy supporting the Darwinian version of thinking about the origin of life. The Evolution-theory explains the idea of origin of life from a non-living substance called matter. "Despite the existence of fossils remains, for some species, there are incomprehensible intervals or missing links in the chain of evolutionary process. The theory of Evolution, argues P. Govindrajan[3] has not been in a position to throw sufficient light on great leaps in the evolutionary process from plants to fishes, fishes to insects animals to human-beings etc. " This materialistic approach of biologists have yielded more pains and confusion than it really worth.

Now, there are three line of thoughts before us to discuss the subject of Evolution.

I. To accept the creation of the Universe as a brute fact. It is certain that in this modern-age of Scientific-cosmology and physics, one can no longer think of space and time as "coming into existence" anyway. The creation and end of the universe are now considered as theological notions not astronomical ones as suggested by Dennis overbye., Paul Davies[4] a famous physicist, argues that "the universe of space, time and matter is internally consistent and self-contained. Its existence does not require anything outside it, specially no prime-mover is needed."

II. To accept the biological descriptions-the origin of life from a non-living substance called matter.

In this way, science has dampened the person's hopes for a higher meaning. The life, says Paul Davies[5] "must have a deeper level of explanation. The mind i.e. conscious awareness of the world is not a meaningless and incidental quirk of nature but an absolutely fundamental facet of reality" Several Scientists[6] have demonstrated in labs about the impossibility of life from the non- living matter. The study of fossils remains, seems to me, is mis- interpreted by Scientists.

Random-availability of fossils evidence is infact, indicative of ancient size of species not the evolutionary sequence of species.

III. The third line of thought which is being discussed in this paper, is unique in the sense that it has never been looked for. The antiquity of the system[7] i.e. Jainism, is well established through non-Jaina-literature and their counterparts in archaeological evidences in India.

Main features of Jaina-conception of Evolution can be grouped under the following points:-

1. Jainism rejects all the creation and dissolution myths of the universe. There can be neither destruction of existing Dravyas or substances nor creation of non existing ones. Concepts of creation and destruction are applicable to the forms or modes of substances only.[8] The composite of all Six categories of substances are called the universe, with note of eternity of substances the universe is regarded as beginningless. Hence, neither there is a need of a creation event nor does it require any divine intervention to keep it running. The physical creativeness is made up of the harmony of Time, Space, Life, Matter, Medium of Motion and Medium of Rest. All this make the universe self-winding self-consistent and self-existent phenomena. Nobody can argue against the famous law of physics i.e. the law of conservation of energy and matter which categorically demonstrates that energy or matter can not be created or destroyed as they are eternal and can only change forms.

2. The whole edifice of the Evolution in Jainism is built upon the concept of transmigration or revolving-nature of the life- energy or soul or mind. In terms of the law of conservation of energy, as shri P. Govindrajan[9] suggests "the life-energy which has parted company with the animate being should either continue to remain as energy as the Scientists clearly tell us that the total quantum of energy and matter in the Universe is always constant and un-alterable and by no strech of imagination they can either increase or decrease". It can be boldly stated that the transmigration is a fact which no Scientist or thinker can deny.

3. The life has a purpose or meaning i.e. a hope for the finest possibility. In other words, the life continues to revolve and evolve till the attainment of purity of consciousness. By purity of consciousness means permanent termination of symbiosis between matter and life.

It is evident that matter, exist without life also. On the same analogy, whether life can also exist without matter. This principle is philosophically and religiously known as 'Moksha' Nirvana or complete emancipation from matter.

4. Environmental conditions of the physical world are subject to constant cyclical-change but not in the manner of Big-Bang as suggested by some Scientists. These conditions of the world go on increasing till a point from where a decreasing process will start. The life-less, non living and unconsious universe, in the worlds of J.L. Jaini,[10] is eternal and uncreated and it evolves and revolves within its own countless attributes and modifications for ever and that it undergoes even radical catastrophic- changes in space and time which the history of all nations records".

5. Evolution mechanism can be divided in four major points:-

A- Basic assumptions (definitions)

B- The Physical creative field (functioning of six substances)

C- Symbiosis of life and matter

D- Biological conditions of existence (84 Lacs species).

(A) Basic assumptions

A-1. The nature of substance is existence accompanied by qualities by its variegated modification and by origination permanence and destruction for all the time."[11]

A-2. Six categories of substances are:-

A-2-i- Jiva (the life, or soul or mind).

A-2-ii- Pudgala (the matter).

A-2-iii- Akasa (Space) space is Jainism is regarded as a fundamental objective reality which accommodates completely to all souls and matter. Further, the world-space is only a part of infinite space.

A-2-iv- Kala (Time) Time is a real substance and change is a modification of it. Its passive role in the evolution process is well experienced by all of us.

A-2-v- Adharma Dravya (Medium of Rest) Nearer concept of Science is grativation).

(B) The Physical Creative field

The life and the matter are real entities and co-exist since infinite past. The principles of Motion, Rest and Time are co- extensive and pervading through-out the World-space only. To shape a coherent system of 'Cosmos' and to save matter and soul from scattering throughout the infinite space, the inference and acceptance of these principles are inevitable. Dharma- Dravya, Adharme-Dravya and Kala are deprived of their casuality. They can be only a 'bahiranga-hetu' or 'Udasina-hetu' i.e. they are indifferent and neutral in themselves and yet are indispensible to completion of the world. Acharya Kunda Kunda,[12] a famous Jaina thinker of 1st Century B.C. argues that "if space is to be credited with the functions of Motion and Rest, in addition to its own function of accommodating things there will be no Cosmos since Jiva and matter will scatter throughout the infinite space and practically there will be no world at all."

(C) Symbiosis of Life and matter

To a Jiva in Samsara, desire and aversion, will naturally occur. On account of these states, karmic-matter clings to the Jiva. The Karmic-bondage leads the Jiva through the four Gatis or states of existences. Entering into the Gati, Jiva builds up its own appropriate body, being embodied, he gets the senses. Through the sense objects of the environment are pursued. From this perception appears desire or aversion towards these objects and from desire, the cycle begins again. Thus desire brings karma, karma leads to Gati, Gati means body implies senses, senses lead to senses-attached perception, and the perception again to desire or aversion and so on ad-infinitum. But the cycle ends in case of Bhavya-Jiva (who are capable of spiritual emancipation) whereas it is unending to abhavyas. But it has no beginning in either case."[13]

The mutual interaction between Soul and matter is subject to the limitations laid down by attributes of both and is like milk- water relationship. The real cause of association between them is the Vibhava-Shakti (Power of distortion) of the both. Neither Soul nor matter alone is able to give rise the mundane existence.

(D) Biological Descriptions

84 Lacs of Species,[14] survive at every point of Time, are classified as:-

D-i- Nitya Nigoda (the permanent lowest form of life and very subtle creatures born in clusters possessing a single body). Etara-Nigoda (the non-permanent lowest form of life), prithvi- Kaya (earth-bodied beings). Apa-Kaya (water bodied beings), Tejo- Kaya (fire-bodied beings), and Vayu-Kaya (air-bodied beings) are seven lacs each.

D-ii- Vanaspati-Kaya (botanical organism or plant life are 10 lacs.

D-iii- Animal beings having sense-organs from two to four are Six lacs.

D-iv- Deva (inhabitants of Heavens or celestial beings, infernal Naraki (inhabitants of Hells) and Triyanca (animals having five sense organs are four lacs each.

D-v- Manusya (Human beings) are 14 lacs.

To conclude, is this doctrine not more soul-satisfying simple and stamped with cogency and truth than an attempt to explain things by the doctrine of creation?

J.L. Jaini[15] argues that "Creation thus being only the creation of its perfect condition by the pure soul".

Tes and References

1. Frank Thilly- A History of Philosophy- P-68.

2. Bakhtaver S. Mahajan- Article Origin of Life-Science Today-Vol 22 No. 1 January.

3. P. Govindrajan- Article-Evolution Theory-a Scientific view-The Hindu (daily)- New Delhi edition) Dated 24.3.92.

4. Paul Davies- The mind of God Fenguin Publication-P-68.

5. Ibid-P-16.

6. Like Louis Pasteur in 1862 and Francesco Redi in 1668.

7. T.N. Ramchandran- Harrapa & Jainism- Kundakunda Bharati-Delhi.

8. Acarya Kundakunda-Pravachanasa Gatha II/04, Panchastikaya-gatha-15.

9. P. Govindrajan-Article-Evolution Theory The Hindu (Daily)

10. J.L. Jaini-Article-Jain Journal Vol-XXIV April 1990-P-118.

11. Acarya kundakunda-Panchastikaya-gatha 92-English translation of Prof. A. Chakuavarti.

12. Acarya Kundakunda-Panchastikaya-gatha 92-English translation of Prof. A. Chakravarti.

13. Ibid-gatha-128-130.

14. Acarya Kundakunda-Baras Anuvekkha-gatha-35.

15. J.L. Jain-Article-Jain Journal vol. XXIV April 1990-P-118.



गुना में अखिल भारतीय जैन विज्ञान विचार-संगोष्ठी का अद्वितीय आयोजन :



मूल्यांकन-परम्परा का अनुकरणीय सूत्रपात

-डॉ. नेमीचंद जैन, संपादक 'तीर्थंकर', इन्दौर

गुना। मुनिश्री क्षमासागरजी, ऐलक श्री उदारसागरजी तथा ऐलक श्री सम्यक्त्व सागरजी के शुभ सान्निध्य में 26-28 अगस्त को एक सफल/सार्थक 'अखिल भारतीय जैन विज्ञान विचार संगोष्ठी' का अविस्मरणीय आयोजन किया गया। संगोष्ठी के आठ सत्रों में जैन धर्म, दर्शन और आचार के बहुआयामी स्वरूप पर सर्वश्री अशोक जैन (ग्वालियर), डॉ. गोकुल प्रसाद जैन (दिल्ली), डॉ. अनुपम जैन (सारंगपुर), डॉ. एम.एम. बजाज (दिल्ली), श्रीमती कान्ति जैन (ग्वालियर), प्रो. एम.एल. जैन (उज्जैन), डॉ. अभयप्रकाश जैन (ग्वालियर), डॉ. नेमीचन्द जैन (इन्दौर), आर.सी. जैन (उज्जैन), आर.के. जैन (विदिशा), डॉ. अनिलकुमार जैन (अहमदाबाद), श्री सुरेश जैन (IAS) (भोपाल), डॉ. आराधना जैन (गंजबासोदा), डॉ. आर.के. जैन (झाँसी), श्री सुरेश जैन (विदिशा) और डॉ. निरंजन श्रोत्रिय (गुना) ने तर्कसंगत/सारगर्भित प्रकाश डाला।

इस अवसर पर जैन पुराण कोशकार डॉ. दरबारीलाल कोठिया (बीना), प्रो. प्रवीणचंद जैन (जयपुर) एवं डॉ. कस्तूरचंद जैन (श्री महावीरजी) का भावभीना सम्मान किया गया।

27 अगस्त को संगोष्ठी के पाँचवें सत्र के शुरू होने से पहले मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री दिग्विजयसिंह ने एकत्रितों को संबोधित करते हुए कहा कि 'इस देश की शक्ति विविधता में एकता है। यहाँ अन्ततः सत्य और अहिंसा की ही विजय हुई है। हमें एक-दूसरे के धर्म का सम्मान करना चाहिये। मैं सदैव आपके साथ हूँ।' युवकों ने प्रदेश में बढ़ती हिंसा के प्रति गहन चिन्ता व्यक्त करते हुए उन्हें एक ज्ञापन दिया।

'संगोष्ठी पूज्य मुनिश्री क्षमासागरजी तथा ऐलक द्वय के व्यक्तित्व के कारण उन तमाम संगोष्ठियों से सर्वथा भिन्न मुद्रा में रही, जो प्रायः बतौर फैशन जैन समाज में घटित होती है।'

हमारे प्रतिनिधि ने गुना-संगोष्ठी की विशेषताओं का जिक्र करते हुए लिखा है कि आयोजित संगोष्ठी रूढ़ संगोष्ठियों से भिन्न थी। इसकी पाँच विशेषताएँ थीं- 1. चर्चाएँ रूढ़/आग्रही ढाँचे से मुक्त थीं, 2. मुनिवर्ग ने दिशा-दृष्टि दी, किन्तु वे शुरू से आखिर तक आग्रह-मुक्त रहे, 3. श्रोताओं ने विचारोत्तेजक हिस्सेदारी की, 4. वक्त की पाबन्दी का

पूरा-पूरा ख्याल रखा गया, 5. किसी ने किसी विशेष स्थान पर बैठकर सुनने का आग्रह नहीं किया, वैसे भी दोनों मंजिलों पर शॉर्टसर्किट, टीवी का समुचित प्रबन्ध किया गया था।

संगोष्ठी संपन्न होने के बाद गठित मूल्यांकन समिति ने श्रोताओं से उनकी प्रतिक्रियाएँ और रायें एकत्रित कीं और अपने निष्कर्ष उपलब्ध कराये। एकत्रित अभिमतों में एक स्वर प्रधान था कि 'यह प्रयास आने वाली पीढ़ी में जैनधर्म के प्रति एक रचनात्मक/भावनापरक रुझान को जन्म देगा।' समिति के निष्कर्ष हैं : 1. ऐसी संगोष्ठियों में विद्वानों की संख्या सीमित रखी जाए ताकि उन्हें अधिक समय मिल सके और उनसे खुल कर विचार-विनिमय संभव हो, 2. एक पूरे दिन में जो भी सत्र हों वे एक ही विषय-वस्तु पर केन्द्रित हों, 3. प्रत्येक विषय पर कम से कम 2-3 विषय-मर्मज्ञ/विशेषज्ञ अवश्य आमन्त्रित किये जाएँ, 4. कोई भी विद्वान् अपना विषय प्रस्तुत करे इससे पूर्व श्रोताओं को सम्बन्धित आलेख की प्रतियाँ अवश्य उपलब्ध कराई जाएँ, तथा 5. सायंकालीन सत्र को रात्रिकालीन सत्र में परिवर्तित किया जाए ताकि मध्यान्तर में विद्वानों से विचारों का आदान-प्रदान संभव हो।

हमारे प्रतिनिधि का मानना है कि गुना-संगोष्ठी ने सामान्य जैन (कॉमन जैन) को नवचिन्तन की मुख्यधारा से जोड़ने का अभिनव प्रयास किया है, जिसका देश की संगोष्ठी संरचना पर उल्लेखनीय असर पड़ेगा।

संगोष्ठी का संयोजन डॉ. अभय प्रकाश जैन तथा संचालन श्री नीरज जैन ने किया। प्रत्येक सत्रान्त में मुनिवर्ग ने अपने विचार रखे तथा शुभाशीर्वाद दिये।

